सूचना

पुस्तक के समस्त निबन्ध, लेखक एव प्रकाशको से नियमित रूप में स्वीकृति लेकर प्रकाशित किए गए हैं। अत. कोई भी महानुभाव पुस्तक के निबन्ध सम्बन्धित लेखक अथवा हमारी स्वीकृति बिना प्रकाशित करने का कष्ट न करें। अन्यथा वह समस्त कानूनी कार्यवाही एव हानि के लिए उत्तरदायी होगा।

रघुवीरशरण बंसल

मूल्य २ ५० नये पैसे

प्रकाशक : सर्वोदय प्रकाशन मन्दिर
नई सडक, दिल्ली।

मुद्रक : नरेन्द्र प्रिंटिङ्ग प्रेस,
३०, मॉडल बस्ती, दिल्ली।

अनुक्रम

प्रवेश

प्रस्तुत सकलन में सैद्धान्तिक समीक्षा सम्बन्धी ग्यारह उच्च कोटि के निबन्ध सकलित किये गये हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्य में प्रचलित सैद्धान्तिक समीक्षा की विविध पद्धतियों के सामान्य ज्ञान के लिए ये निबन्ध अत्यन्त उपयोगी हैं। यदि इन निबन्धो का भली-भाँति अध्ययनाध्यापन किया जाय तो आज की समीक्षा के स्वरूप का बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त हो सकता है। किन्तु ये मूल निबन्ध इतने दुरूह अथच गम्भीर हैं कि इनकी पृष्ठभूमि के रूप में जब तक समीक्षा की विविध शैलियों का ज्ञान न हो जाय और जब तक सरल भाषा में इन निबन्धो की व्याख्या-विश्लेषण अथवा सार-समालोचना आदि न हो, तब तक इनके वास्तविक आशय को हृदयगम करना अत्यन्त कठिन है। इसीलिए भूमिका में आधुनिक समीक्षा की विविध शैलियो का विश्लेषणात्मक परिचय देने का प्रयत्न किया गया है। साथ ही प्रत्येक वर्ग के प्रतिनिधि समीक्षको की समीक्षात्मक कृतियों और मान्यताओ का भी विवेचनात्मक परिचय दे दिया गया है। इस प्रकार पृष्ठभूमि के रूप में भूमिका भाग में दिये गये विषयो को हृदयगम कर लेने के पश्चात् मूल निबन्धो के अध्ययनाध्यापन में प्रवृत्ति सुकर एव फलीभूत हो सकती है।

स्मरण रहे कि इनमें से अनेक निबन्ध लेखको के गहन मनन, चिन्तन एव अध्ययन को व्यक्त करते हैं। इनको ठीक ढग से समझ लेना या समझा देना कोई बच्चो का खेल नहीं। इसके लिए विशेष योग्यता अपेक्षित है। बहुत से निबन्धो में एक-दूसरे के विरुद्ध सिद्धान्त प्रतिपादित हुए हैं तो कही एक ही निबन्ध में परस्पर विरुद्ध विचार व्यक्त कर दिये गये हैं,

जिनसे ऐसा प्रतीत होता है कि 'वदतोव्याघात' दोप है। जैसे कि—'कला में जीवन की अभिव्यक्ति' शीर्षक निवन्ध में श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी ने लिखा है कि—

'कला, कला के लिए' की आवाज तब उठनी चाहिए जब समाज के समान साहित्य भी रुढ़िग्रस्त हो जाय। ऐसी परिस्थिति में साहित्य में क्रान्ति या प्रगति की भावना भरने के लिए कला, कला के लिए का नारा बुलन्द होता है।'

इसके विपरीत 'उपन्यास का विषय' शीर्षक निवन्ध में श्री प्रेमचन्द जी कहते हैं—

'जब देश और समाज सब प्रकार की सुख-सुविधाओं से युक्त सुखी, समृद्ध और ऐश्वर्य-सम्पन्न हो, तभी 'कला, कला के लिए' का सिद्धान्त व्यावहारिक हो सकता है।'

इसी प्रकार बाबू श्यामसुन्दरदास अपने 'समाज और साहित्य' शीर्षक निवन्ध में लिखते हैं—

'मनुष्य के विचारो पर प्राकृत अवस्था का बहुत भारी प्रभाव पडता है। ... भारतभूमि को प्रकृति-देवी का प्रिय व प्रकाड क्रीडाक्षेत्र समझना चाहिए। ·····यही मुख्य कारण है कि यहाँ का साहित्य धार्मिक विचारों से भरा हुआ है।'

इसके विपरीत डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी 'नये साहित्य का दृष्टिकोण' शीर्षक निबन्ध में लिखते हैं कि—

'इस दृष्टि से ससार के इतिहास को देखने वालों ने मनुष्य के काव्य, नाटकादि ललित-कलाओ से लेकर आचार, विहार, निद्रा आदि क्रियाओं तक को देश-विदेश की भौगोलिक परिस्थिति की उपज बताया था।

इसीलिए भारतीय साहित्य पर धार्मिकता की छाप है। पर ये सब कुछ नहीं है।'

यहाँ स्पष्टत द्विवेदीजी ने श्यामसुन्दरदास जी आदि पूर्व समीक्षको द्वारा स्वीकृत मान्यताओ के विरोध में वर्तमान में प्रचलित मत का प्रतिपादन

किया है। इसी प्रकार श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी 'कला में जीवन की अभिव्यक्ति' शीर्षक निवन्ध में लिखते है कि—

'सर्वश्री रवीन्द्रनाथ, प्रेमचन्द व शरत्चन्द्र हमारे स्वनाम-धन्य कलाकार हैं, जिन्होंने आधुनिक विश्व-साहित्य में भारत का मस्तक ऊँचा किया है।'

इसके विपरीत श्री इलाचन्द्र जोशी 'आधुनिक हिन्दी साहित्य में मनोविज्ञान' शीर्षक निवन्ध में लिखते हैं कि—

'प्रेमचन्द जी उपन्यास-कला के चमत्कार-दर्शन और जीवन के किसी भी सत्य के उद्घाटन में पूर्णतया असफल रहे। यदि हम लोग महान् कलाकार तथा उपन्यास-सम्राट् के विशेषणों से विभूषित करते हुए उनमें उन गुणों का आरोप करते चले जायें जो उनमें नहीं थे, तो यह मूर्खता वैसी ही हास्यास्पद सिद्ध होगी········। जो इस समय किन्हीं न्यस्त स्वार्थों से प्रेरित होकर प्रेमचन्द जी को महान् कलाकार सिद्ध करने पर तुले हुए हैं ·· ·····आदि।'

इसी प्रकार जोशी जी के इस निवन्ध में ही परस्पर विरोधी विचार मिल जाते हैं, जैसे कि एक स्थान पर तो वे कहते हैं :—

'जैनेन्द्रजी, अज्ञेयजी तथा स्वयं को छोडकर मैं यहां अन्य उपन्यासकारों की चर्चा नहीं करना चाहता क्योंकि उनका मनोविज्ञान तो आरम्भिक अवस्था को भी पार नहीं कर पाया और किसी-किसी का मनोविज्ञान तो आरम्भिक अवस्था तक भी नहीं पहुँचा।'

इससे तो ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दी के इन दो ढाई उपन्यासकारो के सिवा दूसरा कोई भी मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार नही है। इसके विपरीत आगे चलकर वे स्वय लिखते हैं कि—

'हिन्दी का मनोवैज्ञानिक उपन्यास-साहित्य सतत उन्नत हो रहा है। वह अन्य भारतीय भाषाओं के मनोवैज्ञानिक साहित्य से वहुत आगे वढ़ आया है।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन निवन्धो में एक ही विपय को लेकर

विभिन्न-विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार व्यक्त किये हैं। ऐसे साहित्यिक मत-भेदों को समझने व समझाने से विचार सरणि विस्तृत होती है।

इस प्रकार परस्पर विरोधी मतों को प्रतिपादित करने वाले दो-तीन उद्धरण ऊपर उद्धृत किये गये हैं। इनके अतिरिक्त अन्य भी बहुत से ऐसे स्थल मिल सकते हैं जिनके समझने-समझाने के लिए पर्याप्त विचार व गम्भीर अध्ययन की बड़ी आवश्यकता है।

इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए विविध समीक्षा-प्रणालियों तथा समीक्षा-सम्बन्धी साहित्य आदि का सर्वांगीण विवेचन करते हुए व्याख्या-विश्लेषण आदि से इस संकलन को समलंकृत बनाने का प्रयत्न किया गया है। अनावश्यक एक शब्द भी न देते हुए भी मनोवैज्ञानिक या मनोविश्लेषणिक समीक्षा के सम्बंध में कुछ व्यापक विचार किया गया है, क्योंकि समीक्षा की यह प्रणाली अनेकों के लिए अब भी सर्वथा नवीन है, और इस विषय के दो निबन्ध भी यहाँ उद्धृत हैं।

यदि इस पुस्तक से हिन्दी में प्रचलित समीक्षा-प्रणालियों तथा प्रामाणिक समीक्षकों के विचारों को समझने में कुछ भी सहायता मिली तो हम अपने श्रम को सफल समझेंगे।

पुस्तक में जिन विद्वानों के निबन्ध संकलित किए गये हैं, इनके

समीक्षा के प्रकार

प्रस्तुत सकलन में उद्धृत निबन्धों में स्थान-स्थान पर हिन्दी में प्रचलित नई-पुरानी अनेक प्रकार की समीक्षा-प्रणालियों का विवेचन या उल्लेख हुआ है, अतः सर्व-प्रथम यहाँ[1] समीक्षा के विविध प्रकारों का विवेचन किया जाता है। समीक्षा या समालोचना का अर्थ है किसी वस्तु को भली-भाँति देखना। यह समीक्षा मुख्यतया दो प्रकार की है—

१. सैद्धान्तिक समीक्षा २. व्यावहारिक समीक्षा।

सैद्धान्तिक समीक्षा—आलोचना के शास्त्रीय पक्ष को सैद्धान्तिक समीक्षा कहते हैं। इसमें समीक्षा के प्रकार तथा समीक्षा की विविध शैलियों आदि का विवेचन रहता है।

व्यावहारिक समीक्षा—सैद्धान्तिक समीक्षा द्वारा निर्धारित और निर्णीत सिद्धान्तों के आधार पर किसी रचना की समीक्षा की जाती है। बाबू श्यामसुन्दरदास कृत 'साहित्यालोचन' आदि ग्रन्थ सैद्धान्तिक समीक्षा-परक हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-कृत 'गोस्वामी तुलसीदास' आदि ग्रन्थों में व्यावहारिक समालोचना की गई है।

सैद्धान्तिक समीक्षा के आधार पर समालोचना के निम्न भेद निर्धारित किये गये हैं —

१. व्याख्यात्मक आलोचना, २. निर्णयात्मक आलोचना, ३. प्रभावात्मक आलोचना।

---

१. दर्शनार्थक 'लोकृ' और 'ईक्ष' धातुओं से पूर्व 'सम्' और 'आङ्' उपसर्ग लगाने से समालोचना और समीक्षा आदि शब्द बनते हैं।

१ **व्याख्यात्मक आलोचना**—प्रत्येक रचना का स्वतन्त्र रूप से गुण-दोष विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना व्याख्यात्मक समीक्षा का एक मात्र उद्देश्य है। इसमें कृति को स्वतन्त्र इकाई के रूप में ग्रहण किया जाता है। १ ऐतिहासिक, २ मनोवैज्ञानिक, ३ चरित्रमूलक, ४ तुलनात्मक। ये चारों व्याख्यात्मक समीक्षा के उपभेद हैं।

२ **निर्णयात्मक आलोचना**—सिद्धान्त ग्रन्थो द्वारा प्रतिपादित शास्त्रीय नियमो के आधार पर रचनाओ के गुण-दोषों का विवेचन कर उनका मूल्याकन निर्णयात्मक आलोचना है। यह निर्णयात्मक आलोचना रचना को एक ओर तो लक्षण-ग्रन्थो के कठोर नियमो में जकड देती है, दूसरी ओर भले-बुरे का निर्णय देकर साहित्य की प्रगति में बाधा उपस्थित कर देती है। इसीलिए आजकल निर्णयात्मक आलोचना को उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाने लगा है। किन्तु इसका भी अपना महत्व है। इस सम्बन्ध में कहा गया है कि यह आलोचना-शैली चाहे साहित्यकार के अतस्तल की भावनाओ को समझने में समर्थ न हो सके, चाहे साहित्य-कार की सूक्ष्म मार्मिकताओ का उद्घाटन न कर सके, पर वह एक तटस्थ की भाँति अपनी आलोच्य कृति की निष्पक्ष आलोचना करती है। यदि वह तटस्थता छोड देता है तो वह आलोचक के पद से गिर पडता है। न्यायाधीश के पद पर स्थित निर्णायक जैसे कानून के बधन से जकडा रहता है, वह एक तिल भर भी इधर-उधर खिसकने पर अपने कर्तव्य से च्युत हो जाता है, उसी भाँति निर्णायिका आलोचना में आलोचक को सदैव निष्पक्ष आचरण करना पडता है। चाहे आलोच्य के प्रति उसके हृदय में मधुर भावना ही क्यो न हो, पर जब वह आलोचना करने लगता है तब निर्धारित सिद्धान्त के अनुसार यदि आलोच्य कृति में दोष मिलते हैं तो उसे उनका उद्घाटन करना ही पडता है। ····· पूर्व निर्धा-रित आलोचना-सिद्धान्तों का अनुयायी होने के कारण आलोचक न तो कभी भावाविष्ट होता है और न कभी उच्छृङ्खल ही होता है। वह सदैव गम्भीर चिन्तनकर्ता के रूप में हमारे सामने आता है। अत इस शैली

की आलोचना में व्याख्यात्मक आलोचना में दिखाई पडने वाली सहानुभूति का—जो वस्तुत पक्षपात का एक परिमार्जित एव शिष्ट रूप है—पूर्ण अभाव रहता है।

३ **प्रभावात्मक समालोचना**—प्रभावात्मक आलोचना में आलोचक आलोच्य-रचना की भाव-धारा में मग्न हो जाता है। वह आलोच्य कृति का वर्णन न कर आलोचक के हृदय पर उसका जो प्रभाव पडा, उसी का वर्णन करने लगता है। कलाकार की किसी रचना पर ऐतिहासिक, सामाजिक आदि परिस्थितियो तथा मनोवैज्ञानिक कारणो का क्या प्रभाव पडा, इसकी ओर ध्यान न देकर प्रभाववादी आलोचक तो उस रचना के अध्ययन से प्राप्त होने वाले आनन्द में मग्न हो जाता है। ऐसा समीक्षक अपने पर पडने वाले इस प्रभाव का वर्णन एक प्रकार के गद्य-काव्य में करने लगता है। इसीलिये इस समालोचना को प्रभाव-वादी कहा गया है। इस प्रकार प्रभाववादी आलोचना में आलोच्य कृति का नही प्रत्युत हृदय पर पड़ने वाले उसके प्रभाव का ही मुख्यतया वर्णन रहता है।

इस समीक्षा की सबसे वडी त्रुटि यह है कि किसी रचना का सभी पाठको के हृदयो पर एक-सा प्रभाव कभी नही पड़ सकता। दूसरे यह कि इससे आलोच्य-रचना के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञान नही हो सकता। प्रभाववादी आलोचना वास्तव में समीक्षक को आलोचक के क्षेत्र से उठाकर कवि के क्षेत्र में पहुँचा देती है।

व्याख्यात्मक आलोचना के प्रमुख भेद निम्न हैं—

(क) ऐतिहासिक समीक्षाः—व्याख्यात्मक समीक्षा के अतर्गत जिन विविध वाह्य एव आतरिक परिस्थितियो का विचार किया जाता है, उनमें मुख्य ऐतिहासिक प्रणाली है। कवि की सामयिक, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि परिस्थितियो का अध्ययन करते हुये आलोच्य-रचना पर प्रभाव-प्रदर्शनपूर्वक व्याख्या की जाती है। साहित्य के इतिहास प्रायः इसी शैली को आधार मानकर लिखे जाते हैं।

(ख) तुलनात्मक समीक्षा—किन्हीं दो समकक्ष तथा समश्रेणी कवियों की तुलनात्मक समीक्षा भी व्याख्यात्मक शैली का ही एक प्रकार है। प्रस्तुत संकलन में संगृहीत श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी के 'कला में जीवन की अभिव्यक्ति' और श्री इलाचन्द्र जोशी के 'आधुनिक हिन्दी साहित्य में मनोविज्ञान' शीर्षक निबन्धों में श्री प्रेमचन्द और शरत्चन्द्र आदि की कला पर कुछ तुलनात्मक ढंग से प्रकाश डाला गया है।

(ग) चरितमूलक समीक्षा—ऐतिहासिक समालोचना का ही एक रूप चरितमूलक समालोचना भी है। कलाकार के जीवन का सूक्ष्म अध्ययन करते हुए उसकी रचनाओं के साथ तारतम्य प्रदर्शित करना चरितमूलक समालोचना का वैशिष्ट्य है। श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय ने 'महाप्राण निराला' इसी शैली में लिखा है।

(घ) प्रगतिवादी आलोचना—प्रगतिवादी आलोचना भी ऐतिहासिक समीक्षा का ही एक रूप है। प्रगतिवादी समीक्षा मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को आधार मानकर चलती है। प्रगतिवादी समीक्षक प्रत्येक वस्तु पर समष्टिगत आर्थिक दृष्टिकोण से विचार करते हैं। प्रो० शिवबालक राय के 'प्रगतिवाद की रूपरेखा' शीर्षक निबन्ध में प्रगतिवाद के स्वरूप तथा उसके गुण-दोष आदि का विवेचन किया गया है। अतः पिष्टपेषण की आवश्यकता नहीं। श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, डाक्टर रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, डाक्टर भगवतशरण उपाध्याय आदि हिन्दी के प्रसिद्ध प्रगतिवादी समीक्षक हैं।

(ङ) मनोवैज्ञानिक समीक्षा—आजकल हिन्दी साहित्य में मनोवैज्ञानिक समीक्षाओं का बड़ा जोर-शोर से प्रचार किया जा रहा है। इस समीक्षा के अनुसार कवि के अन्तर-जगत् का विश्लेषण करते हुए उसका आलोच्य कृति पर प्रभाव दिखाकर उसकी व्याख्या की जाती है। इस मनोवैज्ञानिक आलोचना को भी हम साधारणतया दो बड़े भागों में विभक्त कर सकते हैं—१ सामान्य मनोवैज्ञानिक आलोचना, २ मनोविश्लेषणिक आलोचना। साधारण मनोवैज्ञानिक आलोचना में मनोविज्ञान के सामान्य

नियमो के आधार पर विवेचन रहता है । वहाँ किसी मत-विशेष या व्यक्ति-विशेष के द्वारा प्रतिपादित मत की लकीर नही पीटी जाती । मनोवैश्लेपणिक आलोचना फ्रायड, एडलर और युग इन तीनो पाश्चात्य विचारको की विचार-सरणी को आधार मानकर चलती है । बात तो यह है कि यूरोपियन चिन्तन-पद्धति को कार्लमार्क्स और फ्रायड , इन दो परस्पर विपक्षी दृष्टि वाले चिंतको की विचारधारा ने अत्यधिक प्रभावित किया है । कार्लमार्क्स की मान्यताओ के आधार पर प्रगतिवादी समीक्षा-प्रणाली चल निकली है; तो फ्रायड के सिद्धान्तो के आधार पर मनोवैश्लेपणिक समीक्षा चल रही है।

फ्रायड का दर्शन मूलत. वैयक्तिक काम-प्रवृत्ति पर आश्रित है। इधर कार्ल मार्क्स का दर्शन समष्टिगत आर्थिक मूल्यो को ही समाज का नियामक मानता है । फ्रायड के अनुसार मानव-मन की मूल प्रेरक शक्ति काम है । मनुष्य के सभी भले-बुरे कार्य-व्यापारो की जननी काम-प्रवृत्ति या भोग-जन्य उत्तेजना है । अपने मत का सम्यक् प्रतिपादन व समर्थन करने के लिए फ्रायड ने मन के निम्न तीन स्तरो की कल्पना की है.—

१. चेतन, २. अर्धचेतन, ३ अवचेतन ।

चेतन मन मे मनुष्य की सब इच्छाएँ नही रहती । इसमें तो वे ही इच्छाएँ रहती हैं—जो सामाजिक नियमो के अनुसार वर्ज्य नही । सामाजिक दृष्टि से वर्जित एव अतृप्त इच्छाएँ अवचेतन मन में दमित पडी रहती हैं । ये दमित इच्छाएँ अर्धचेतन मन द्वारा स्वप्न-प्रलाप या कला के रूप में अपने आपको अभिव्यक्त करने के लिये सतत संघर्ष करती रहती हैं ।

हमारी यह कुठित काम-वासना अवचेतन मन के द्वारा जब कला के रूप मे अभिव्यक्त होती है तो उनका इस प्रकार उदात्तीकरण या आत्म-संस्कार हो जाता है जिसके प्रभाव से वे समाज के लिए ग्राह्य हो सकें। फ्रायड के अनुसार मन की—१. अह, २. समष्टिगत नैतिक अह, ३. इड या अवचेतन काम-प्रवाह—ये तीन प्रकृतियाँ हैं । चेतन मन की अभिव्यक्ति ही

[तो

अह है जो सदा समष्टिगत नैतिक अह से सामजस्य के लिये प्रयत्नशील रहता है। सम्यता के विकास के साथ मनुष्य अपनी आदिम काम-कठाओ को अधिकाधिक दमन करने का प्रयत्न कर रहा है और इस काम-कुठा के दमन के परिणाम-स्वरूप मानव के निकट भविष्य में ही विक्षिप्त हो जाने की सभावना है।

काम की मूल ग्रन्थी के विकास की तीन स्थितियाँ मानी गई हैं—
१ आत्मरति, २ मातृरति, ३ विजातीयरति।

सामाजिक नियम-बन्धनों के कारण हमारी यह काम-ग्रन्थी अवचेतन मन में दबी पड़ी रहती है, वहाँ से कलाओ का निर्माण स्वप्न तथा विभ्रम या विक्षेप आदि के रूप में हमारी यह काम-भावना अभिव्यक्त होने का प्रयत्न करती है। इस प्रकार फ्रायड के मत में कला भी कवियो द्वारा सयोजित एक विभ्रम या दिवा स्वप्न मात्र है।

फ्रायड के सिद्धान्तानुसार सक्षेप में कह सकते हैं कि—

जीवन की मूल प्रेरणा काम-वासना है। वहाँ दमित काम-कुठाओ के रूप में कला दमित काम-वासना का उदात्तीकृत या डा० नगेन्द्र के शब्दो में आत्म-सस्कार युक्त एक ऐसा रूप है, जिसमें काम-वृत्ति चेतन मन को सामाजिकता से समन्वय करने के लिये परिवर्त्तित रूप में प्रकट होती है। यह दमित काम-कुठा प्रतीको के द्वारा ही कला के रूप में व्यक्त होती है। अत कला के क्षेत्र में प्रतीको का महत्वपूर्ण स्थान है।

आगे चलकर फ्रायड ही के विद्वान् शिष्य एडलर ने फ्रायड से असहमति प्रकट करते हुए कहा कि अतृप्त यौन-इच्छाओ को ही मनुष्य की समग्र मानसिक प्रवृत्तियो का मूल मानना अनुपयुक्त है। अत उसने कहा कि प्रत्येक व्यक्ति में Inferiority Complex अर्थात् हीन भावना और Feeling of Inferiority अर्थात् क्षति-पूर्ति की भावना—ये दो भावनाएँ सदा क्रियाशील रहती हैं। इन्ही के कारण मनुष्य एक-दूसरे से अपने आपको हीन या तुच्छ समझकर अपनी उस कमी को पूरा करने का प्रयत्न करता है।

प्रत्येक व्यक्ति अपने में कुछ-न-कुछ हीनता या कमी का अनुभव करता है और उस कमी को दूर कर दूसरो से आगे वढ जाने के प्रयत्न में रहता है। एडलर के अनुसार वासना जीवन की वैसी मूल प्रेरणा नही है, जैसी कि दृश्यमान जगत् के प्रति हमारी अभाव-जन्य प्रतिक्रिया। अनेक प्रकार के अभावो के कारण मनुष्य समाज में हीन भावना से ग्रस्त एव विचलित हो जाता है। इसी हीन भावना की क्षति-पूर्ति साहित्य में होती है। सामाजिक नियमो के कारण हमारी आन्तरिक कल्पित श्रेष्ठता वहिर्जगत् मे व्यक्त नही हो पाती। किन्तु आन्तरिक जगत् में उसकी गहनीय भावनाएँ सदा विद्यमान रहती हैं। कलाकार इस काल्पनिक महत्व को ही कला के द्वारा अभिव्यक्ति प्रदान करता है।

मनोवैश्लेषिक यूग ने फ्रायड और एडलर—इन दोनो विद्वानो के चिन्तन को त्रुटिपूर्ण वताते हुए कहा कि केवल यौन-इच्छाएं अथवा हीन भाव ही मानव के सम्पूर्ण मानसिक जगत् को आच्छादित किये नही रहता। यूग के अनुसार हमारा मानसिक जगत् बुद्धि-अनुभूति इन्द्रिय-जन्य ज्ञान तथा सहज़ानुभूति—इन चार तत्वो से निर्मित है। इनमें से कोई एक प्रधान और दूसरे अप्रधान होकर अवचेतन मन में दवे पडे रहते हैं। उसके मत से कला की अभिव्यक्ति वैयक्तिक अचेतन की अपेक्षा सामाजिक या सस्कारगत अनुभूतियो से अधिक होती है। इस प्रकार यूग के अनुसार समाज में जीवित वने रहने की इच्छा ही साहित्य की मूल प्रेरणा सिद्ध होती है। मनुष्य अपने शरीर के नष्ट हो जाने पर भी यश, कीर्ति, धन, सतति आदि के द्वारा अमर रहना चाहता है। जीवनेच्छा में ही काम-वासना और महत्व-भावना दोनों अन्तर्हित हैं।

उक्त तीनों विद्वान् इस पर सहमत हैं कि साहित्य-सृजन की मूल प्रेरणा अवचेतन है। यौन-इच्छाओ अथवा हीन भावनाओ या सामाजिक जीवनेच्छाओ के अभाव की क्षति-पूर्ति के अभाव में ही ये लोग साहित्य की मूल प्रेरणा देखते हैं। स्मरण रहे कि डाक्टर नगेन्द्र ने अवचेतन को 'आत्मतत्व' और चेतन को 'अनात्म तत्व' की संज्ञा दी है।

हिन्दी में तीन मनोवैश्लेषिक समीक्षकों के नाम विशेष रूप से लिए जाते हैं—श्री इलाचन्द्र जोशी, डा० नगेन्द्र और श्री अज्ञेय।

जोशी जी मनोविश्लेषिक समीक्षा-पद्धति का महत्व बताते हुए कहते हैं कि—

"जिस प्रकार मनोविज्ञानवेत्ता गण किसी व्यक्ति के स्वप्नों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने पर उसके चरित्र की मूल बातों का पता लगा लेते हैं, उसी प्रकार कलाकार की कृति से उसके भीतर के द्वन्द्व, उसकी अन्तश्चेतना में निहित पाशविक वृत्तियों के ताडन अथवा स्वास्थ्यकर मानवीय भावनाओं के आलोडन-विलोडन का पता भी निश्चित रूप से लगाया जा सकता है।"[1] जैसा कि अन्यत्र कहा गया है, जोशी जी फ्रायड के अन्ध-भक्त नहीं। इसीलिए वे फ्रायड द्वारा निर्दिष्ट मन के तीन स्तरों की कल्पना का खण्डन करते हुए कहते हैं कि—

मेरे मत में मानवीय मन का विभाजन केवल दो या तीन खण्डों में नहीं किया जा सकता। मनुष्य का मनोलोक केवल सचेत मन, अर्द्धचेतन मन, अवमन तक ही सीमित नहीं है, वह असंख्य स्तरों में विभक्त है जिनमें से अधिकांश स्तर साधारण चेतना की अवस्था में हमारी अनुभूति के लिए अज्ञात रहते हैं। जिन अवाञ्छित प्रवृत्तियों का हम दमन करते जाते हैं वे किन्हीं स्तरों में जाकर उन्हीं में जाकर उन्हीं में घुलमिल जाती हैं। प्रतिक्षण एक-न-एक अज्ञात स्तर हमारे सचेत मन को प्रेरणा देता रहता है, पर असाधारण अवस्था में एक नहीं, अनेक स्तर एक साथ एक-दूसरे से टकराते हुए सचेत मन पर आकर हमला करते हैं और एक प्रचण्ड मानसिक भूकम्प की अवस्था उत्पन्न कर देते हैं। अन्तःस्तल में निहित कौन स्तर कब और क्यों उठकर तूफान मचा बैठेगा, इसका कोई भी निश्चित नियम नहीं है"।

---

१. विश्लेषण, पृष्ठ १०६.

डा० नगेन्द्र ने प्रस्तुत सकलन में उद्धृत 'छायावाद की परिभाषा' शीर्षक निवन्ध में भी फ्रायड के सिद्धान्तो के आधार पर कुछ विचार व्यक्त किये हैं, जैसे कि—

'छायावाद की कविता प्रधानत श्रृङ्गारिक है। क्योकि उसका जन्म हुआ है व्यक्तिगत कुण्ठाओं से और व्यक्तिगत कुण्ठायें प्राय काम के चारों ओर केन्द्रित रहती हैं। ··· · समाज के चेतन मन पर नैतिक आतंक अभी इतना अधिक था कि इस प्रकार की स्वच्छद भावनाएँ अभिव्यक्ति नहीं पा सकती थीं। निदान वे अचेतन में उतर कर वहाँ से अप्रत्यक्ष रूप में व्यक्त होती रहती थीं।'

आगे फिर वे लिखते हैं कि 'जो प्रवृत्ति प्रकृति पर मानव व्यक्तित्व का आरोपण करती है वह कोई विशेष प्रवृत्ति नहीं है। वह मन की कुंठित वासना ही है जो अवचेतन में पहुँच सूक्ष्म रूप धारण कर प्राकृतिक प्रतीको के द्वारा अपने को व्यक्त करती है।'

स्पष्ट है कि डा० नगेन्द्र फ्रायड के सिद्धान्तो का ही समर्थन और व्याख्यान कर रहे हैं। किंतु डा० साहव फ्रायड के सिद्धान्तों के एकांगिता से भी भली-भाँति परिचित हैं। इस सम्बन्ध में उन्होने 'फ्रायड और हिन्दी साहित्यिक' शीर्षक निवन्ध में स्पष्ट विचार व्यक्त किये हैं और उनकी आलोचना के मुख्य आधार काव्यशास्त्र और रससिद्धात ही हैं।

डा० नगेन्द्र के सम्बन्ध में आलोचको का मत है कि वे पक्के फ्रायड-वादी हैं। और यहाँ तक कहा गया है कि—

'पहले तो वे समन्वय की वात सोचते रहे, पर आज-कल के रसवादी डा० नगेन्द्र ने फ्रायड का पल्ला कसकर पकड लिया है और अपनी नई आलोचनाओ में वे फ्रायड के मनोविज्ञान को अधिकाधिक लागू करने का प्रयत्न कर रहे हैं।'

किन्तु डा० नगेन्द्र स्वय अपने आपको फ्रायडवादी नही कहते। उन्होने आकाशवाणी दिल्ली से प्रसारित एक वार्ता में स्पष्ट घोषणा की है कि—

'मेरे सहयोगी और समसामयिक मुझे फ्रायडवादी समझते हैं किन्तु उनकी यह धारणा गलत है।'

'अज्ञेय' जी भी क्षति-पूर्ति के सिद्धान्त के समर्थक हैं। पर वहाँ भी सतुलन और सामजस्य विद्यमान है। जैसा कि वे लिखते हैं—

'कलाकार को अपने निजी व्यक्तिगत अकेले मन के प्रति ही नहीं, अपने साहित्य के' अपने समाज, अपने सास्कृतिक परिवृति के, अपने समष्टिगत मन के यदि उसमें इतनी क्षमता है तो जन-मन विश्व-मन के प्रति भी सचेतन रहना होगा। क्योंकि उसे इसका भी अनुभव करना होगा कि यह विशालतर मन उसके निजी मन से कहीं अधिक गौरव रखता है और जितनी ही बड़े मन के साथ गहरी चेतना उसमें है, उतना ही अपने युग के साथ उसका सम्बन्ध लाभप्रद है।'

मनोवैश्लेपणिक आलोचना की एकागिता के सम्बन्ध में हमने अपनी ओर से कुछ न कहकर उक्त तीनो अधिकारी विद्वानो के शब्दो में समीक्षा कर दी है, ताकि यह स्पष्ट हो जाय कि हिन्दी के उक्त तीनो मनोवैश्लेषणिक समीक्षको की भी फ्रायड के सिद्धान्तो पर पूर्ण आस्था

विचारक और उनका समीक्षा-कार्य

श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी गद्य के निर्माताओ में द्विवेदी जी का स्थान प्रमुख है। 'सरस्वती' का सम्पादन-भार सम्भालने के पश्चात् हिन्दी गद्य के परिष्कार और सस्कार के लिए द्विवेदी जी ने अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया। उन्होने खडी बोली गद्य और पद्य के विविध क्षेत्रो में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग दिया है। यहाँ हम उनके आलोचक रूप के सम्बन्ध में कुछ विचार करेगें। आलोचना के दो रूप हैं : १ सैद्धान्तिक, २ व्यावहारिक। द्विवेदीजी ने आलोचना के इन दोनो क्षेत्रो में स्तुत्य कार्य किया। यद्यपि उनका अधिक ध्यान व्यावहारिक आलोचना की ओर रहा पर सैद्धान्तिक आलोचना के लिए भी उन्होने बहुत से स्वतन्त्र निबन्ध लिखे। ये निबन्ध 'रसज्ञ रजन' 'विचार विमर्श', 'समालोचना समुच्चय', 'आलोचनाञ्जली' आदि पुस्तको में सकलित हैं। इनके अतिरिक्त 'नाट्यशास्त्र' नामक सैद्धान्तिक समालोचना सम्बन्धी एक महत्वपूर्ण कृति है। 'कवि और कविता', 'प्रतिभा', 'कविता साहित्य की महत्ता' आदि अनेक शीर्पको से द्विवेदीजी ने अनेक महत्त्वपूर्ण व्यावहारिक आलोचना सम्बन्धी लेख लिखते हुए कविता में छन्द गुण-दोप तथा भापा-विपय शैली आदि पर व्यापक विचार प्रकट किये। इसके अतिरिक्त अनुवाद कार्य का महत्व, काव्य-स्वरूप आदि विपयो पर भी उन्होने सस्कृत साहित्य-शास्त्र के आधार पर मार्मिक विचार व्यक्त किये।

सैद्धान्तिक समालोचना के अतिरिक्त उन्होने व्यावहारिक समालोचना के सम्बन्ध में अत्यधिक कार्य किया। उन्होने प्राय. अपने समय में प्रकाशित सैकडो रचनाओ की आलोचना तो की ही, साथ ही पुराने सस्कृत काव्यों

तथा उनके अनुवादो की समीक्षाएँ भी प्रस्तुत की। उनके व्यावहारिक समालोचना सम्बन्धी निबन्ध 'साहित्य सीकर', 'साहित्य सदर्भ', 'विचार-विमर्श' आदि में सग्रहीत हैं। 'कालिदास की निरकुशता', 'हिन्दी कालिदास' आदि रचनाओ में कालिदास तथा उनके हिन्दी अनूदित ग्रन्थो के दोष दिखाये गये हैं। द्विवेदीजी ने सैद्धान्तिक आलोचना के लिए अधिकतर सस्कृत ग्रन्थो को और कई स्थलो में पाश्चात्य विचारो को भी आधार-रूप में अपनाया है जैसाकि प्रस्तुत सग्रह में उद्धृत 'कवि और कविता' शीर्षक लेख में उन्होने मिल्टन के अनुसार कविता में सादगी, असलियत और जोश—इन तीनो गुणो का प्रतिपादन व समर्थन किया है। किन्तु शेष सारा लेख मम्मट, आनन्दवर्द्धन आदि भारतीय आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तो के समर्थन में ही लिखा गया है। वे कविता में मात्रिक और वार्णिक—दोनो प्रकार के छन्दो के प्रयोग के पक्षपाती थे।

व्यावहारिक समालोचना करते समय उनका ध्यान अधिकतर आलोच्य रचना के दोष-दर्शन की ओर ही रहता था। बात तो यह है कि वे इन दोष-दर्शनो के द्वारा तात्कालिक गद्य-पद्य की त्रुटियो को दूर कर उसे एक सुव्यवस्थित आदर्श रूप देना चाहते थे। किन्तु इसका यह अर्थ नही कि वे कभी किसी के गुणो का वर्णन ही नही करते थे। जैसे कि 'गीता-रहस्य' आलोचना में उन्होने गुणों का वर्णन अधिक किया है, दोष का कम। 'विक्रमाक देवचरितचर्चा' शीर्षक उनका निबन्ध व्याख्यात्मक आलोचना-शैली को लिये हुए है। द्विवेदी जी ने प्रोत्साहन देने के लिए प्रमशात्मक आलोचनाएँ भी खूब लिखी थी, जैसे कि 'भारत-भारती' की आलोचना करते हुए आपने लिखा था कि—

'यह काव्य वर्त्तमान हिन्दी-साहित्य में युगान्तर उत्पन्न करने वाला है। वर्त्तमान और भावी कवियो के लिए यह आदर्श का काम देगा। यह सोते हुओं को जगाने वाला है। भूले हुओ को ठीक राह पर लाने वाला है। निरुद्यमियों को उद्योगशील बनाने वाला है। आत्म-विस्मृतो को पूर्व

स्मृति दिलाने वाला है। इसमें संजीवनी शक्ति है जिसकी प्राप्ति हिन्दी के और किसी भी काव्य से नहीं हो सकती है।

आप छायावाद के कट्टर विरोधी थे। 'आज-कल के छायावादी कवि और कविता' शीर्षक निबन्ध में छायावाद का कितनी जोर से खण्डन कर रहे हैं, देखिये—

'छायावादियो की रचना तो कभी-कभी समझ में भी नहीं आती। वे बहुधा बडे ही विलक्षण छन्दो या वृत्तो का भी प्रयोग करते हैं। कोई चौपदे लिखते हैं, कोई छ पदे, कोई ग्यारह पदे तो कोई तेरह पदे, किसी की चार सतरें गज-गज भर लम्बी तो दो सतरें दो ही अगुल की। फिर ये लोग बेतुकी पद्यावली भी लिखने की बहुधा कृपा करते हैं। इस दशा मे इनकी रचना एक अजीब गोरखधन्धा हो जाती है। न ये शास्त्र की आज्ञा के कायल है और न ये पूर्ववर्ती कवियों की प्रणाली के अनुवर्ती, और न ये सत्समालोचकों के परामर्श की परवाह करने वाले। इनका मूल-मत्र है—हम चुनी दीगरे नेस्त। इस हमादानी को दूर करने का क्या इलाज हो सकता है, कुछ समझ में नहीं आता है।'

कविता के सम्बन्ध में उनके विचारो को जानने के लिए 'कवि और कविता' शीर्षक निबन्ध आगे दिया जा रहा है।

बाबू श्यामसुन्दरदास—प्रचारक और साहित्यकार दोनो रूपो में बाबू जी की हिन्दी-सेवाएँ अत्यन्त महत्वपूर्ण थी। नागरी प्रचारिणी सभा के द्वारा उन्होंने हिन्दी-साहित्य के निर्माण और प्रचार के कार्य में बहुत बड़ा योग दिया। आपने भी व्यावहारिक और सैद्धान्तिक दोनो प्रकार की आलोचनाओं के क्षेत्र में ठोस कार्य किया है। इसके अतिरिक्त भाषा-विज्ञान सम्बन्धी आपकी सेवाएँ भी उल्लेखनीय हैं। सैद्धान्तिक आलोचना की दृष्टि से आपने 'साहित्यालोचन' तथा 'रूपक-रहस्य' नामक दो महत्व-पूर्ण ग्रन्थो की रचना की। साहित्यालोचन मे पूर्व हिन्दी में साहित्य-शास्त्र सम्बन्धी ऐसा कोई ग्रन्थ न था जिसमें पूर्वी और पश्चिमी आचार्यों द्वारा

प्रतिपादित साहित्यिक सिद्धान्तो का विवेचनात्मक परिचय दिया गया हो। जब हिन्दी की उच्च कक्षाओ में उक्त विषय का समावेश भी किया गया तो बाबू जी का ध्यान सर्वप्रथम इस ओर गया और उन्होंने अंग्रेजी के प्रसिद्ध समीक्षा-शास्त्री विद्वान् हडसन के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'इन्ट्रोडक्शन टू दी स्टडी आफ लिट्रेचर' के आधार पर पाश्चात्य समीक्षा सम्बन्धी सिद्धान्तों का हिन्दी में अनुवाद प्रारम्भ किया। उक्त पुस्तक को आधार मानकर मम्मट, विश्वनाथ आदि भारतीय आचार्यों द्वारा प्रतिपादित रस, गुण, दोष, रीति, अलकार आदि कथाओ का वर्णन करते हुए 'साहित्यालोचन' ग्रन्थ का निर्माण किया। इस ग्रन्थ की भूमिका में बाबू जी ने स्वय स्वीकार किया है कि इसमें उन्होने कोई मौलिक उद्‌भावना नही की। सारा का सारा विषय सस्कृत या अंग्रेजी के प्राचीन सिद्धान्त-ग्रन्थो से उद्धृत किया है। किन्तु यह कार्य भी आज से तीस-पैंतीस वर्ष पूर्व अत्यन्त महत्वपूर्ण और स्तुत्य था और आज भी 'साहित्यालोचन' के परिवर्द्धित सस्करण की महत्ता ज्यों-की-त्यो विद्यमान् है।

'रूपक-रहस्य' में 'दशरूपक' के आधार पर नाटक रचना सम्बन्धी तत्वो का विवेचन किया गया है।

उक्त दोनो सैद्धान्तिक समालोचना सम्बन्धी स्थायी महत्वो के ग्रन्थो के अतिरिक्त 'समाज और साहित्य' तथा 'भारतीय साहित्य की विशेषताएँ' आदि अनेक सैद्धान्तिक समालोचना सम्बन्धी निबन्ध भी आपने लिखे हैं।

व्यवहारिक समीक्षा के क्षेत्र में भी आपने खूब कार्य किया, जैसे कि 'गोस्वामी तुलसीदास' नामक ग्रन्थ में गोस्वामी जी के व्यक्तित्व और कृतित्व का विवेचन किया गया है। 'हिन्दी भाषा और साहित्य' में भाषा और साहित्य का इतिहास है। इनके अतिरिक्त 'कबीर ग्रन्थावली', 'सक्षिप्त पद्‌मावत', 'परमालरासो', 'रामचरित मानस' आदि की भूमिकाओ के रूप में भी आपने आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। 'साहित्य लेख' नामक सकलन में आपके बहुत से आलोचनात्मक निबन्ध सकलित हैं।

उक्त विवेचन से स्पष्ट सिद्ध है कि श्री बाबू श्यामसुन्दरदास ने हिन्दी

के सैद्धान्तिक समीक्षा-क्षेत्र में जो कार्य किया, वह नितान्त उपादेय और महत्वपूर्ण है। बाबूजी का 'साहित्य और समाज' शीर्षक व्यावहारिक समीक्षा सम्बन्धी निबन्ध इस सकलन में सकलित किया जा रहा है।

श्री रामचन्द्र शुक्ल—शुक्लजी की गणना भारत के विश्वनाथ पडितराज जगन्नाथ आदि महान् आचार्यो की श्रेणी में की जाती है। जगन्नाथ कविराज के बाद विषय-विवेचन की जो परम्परा लुप्तप्राय सी हो गई थी, शुक्लजी के द्वारा वह मौलिक चिन्तन और गम्भीर विवेचन की पद्धति पुनरुज्जीवित हुई है, इसमें कुछ सदेह नही। यूं तो शुक्लजी प्रमुख रूप से आलोचक होते हुए भी कवि और कहानीकार भी थे, पर हमे यहाँ उनके केवल समीक्षक स्वरूप पर ही कुछ विचार करना है। उनकी समीक्षा सम्बन्धी कृतियो को तीन भागो में विभक्त किया जा सकता है—

१. सैद्धान्तिक साहित्य समीक्षा, २ व्यावहारिक साहित्य समीक्षा, ३ मनोवैज्ञानिक विश्लेषण-परक समीक्षा। सैद्धान्तिक समीक्षा के क्षेत्र में काव्य में 'अभिव्यजनावाद', 'काव्य में रहस्यवाद', 'कविता क्या है' 'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद, 'काव्य में लोकमगल की साधनावस्था' आदि निबन्ध उल्लेखनीय हैं। 'करुणा', 'उत्साह', 'श्रद्धा-भक्ति', 'लज्जा और ग्लानि', 'लोभ और प्रीति' आदि आपके मनोवैज्ञानिक निबन्ध हैं। गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास तथा मलिक मुहम्मद जायसी पर आपने अत्यन्त गम्भीर पाडित्यपूर्ण व्यावहारिक समीक्षाएँ प्रस्तुत की हैं। हिन्दी साहित्य का इतिहास जो सर्वप्रथम हिंदी शब्द-सागर की भूमिका के रूप में प्रकाशित हुआ था, भी एक व्यावहारिक समीक्षा सम्बन्धी सुन्दर ग्रन्थ है।

शुक्लजी ने पूर्वी और पश्चिमी समीक्षा पद्धतियो के समन्वय का प्रयत्न करते हुए भी आदर्श रूप में उन्होने भारतीय सिद्धान्तो को ही ग्रहण किया। जैसे कि शुक्लजी ने प्राचीन भारतीय परम्परा का पालन करते हुए काव्य को कलाओ के अन्तर्गत न मानकर कलाओ से बहुत ऊपर की वस्तु माना है। वे स्पष्ट रूप में कहते हैं कि :—

'कलाओं के सम्बन्ध में जिनका लक्ष्य केवल सौन्दर्य की अनुभूति

उत्पन्न करना है, यह मत बहुत ठीक कहा जा सकता है। इसी से चौंसठ कलाओं का उल्लेख हमारे यहाँ कामशास्त्र के भीतर हुआ है। पर काव्य की गिनती कलाओं में नहीं की गई।'

शुक्लजी भारतीय परम्परा के अनुसार ही 'कला, कला के लिए' सिद्धात का खण्डन करते हुए लोकमगल या शिवत्व की प्रतिष्ठा को ही काव्य का सर्वोत्कृष्ट आदर्श स्वीकार करते हैं। शुक्लजी काव्य में रस-भाव और जीवन की विविधता, पूर्णता तथा नवीन उद्भावनाओ व भाव-गाम्भीर्य के पक्षपाती थे। शुक्लजी के आदर्श थे गोस्वामी तुलसीदास। वे आशा, उत्साह, क्रोध, करुणा आदि मनोविकारों की व्याख्या करते हुए भी मनोवैश्लेषणिक आलोचको की भाँति उन मनोविकारो की स्वाभाविकता का समर्थन नही करते। मनोविकारो का प्रदर्शन लोक-कल्याण के क्षेत्र में किस प्रकार हो सकता है, उस सम्बन्ध में विवेचन करते हुए वे कहते हैं—

'बहुत दूर तक और बहुत काल से पीडा पहुँचाते चले आते हुए किसी घोर अत्याचारी का बना रहना ही लोक की क्षमा की सीमा है। इसके आगे समान दिखाई देगी। नैराश्य, कायरता और शिथिलता की छाया दिखाई पडेगी। ऐसी गहरी उदासी की छाया के बीच आशा उत्साह और तत्परता की प्रभा जिस क्रोधाग्नि के साथ फूटती दिखाई पडेगी उसके सौन्दर्य का अनुभव सारा लोक करेगा। राम का कालाग्नि सदृश क्रोध ऐसा ही है।'

शुक्लजी का वाक्य-विन्यास अत्यन्त सुगठित है। उनके एक-एक वाक्य से उनका पाडित्यपूर्ण व्यक्तित्व तथा गम्भीरत्व एव विस्तृत चिन्तन स्पष्ट प्रकट होता है। व्यजना-शक्ति का पूर्ण विकास भी उनकी भाषा में ऐसा अनुपम हुआ है कि विज्ञ पाठक पढते-पढते तन्मय हो जाता है। आप पहले किसी विचार-सिद्धान्त या भाव को सूत्र रूप में उपस्थित कर फिर उसके व्याख्यान में तर्क, युक्ति, उदाहरण, पक्ष व प्रतिपक्ष के विचारो के उद्धरण के साथ-साथ अपनी बात का इस प्रकार निरूपण करते हैं कि हृदय

सहमा उनसे सहमत हो जाता है। कोई अत्यन्त सचेत और प्रतिभावान् पाठक ही कहीं उनसे अपनी असहमति व्यक्त करने का साहस कर सकता है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है व्यावहारिक और सैद्धान्तिक दोनो प्रकार की समीक्षाओं के क्षेत्र में उन्होंने अपने गम्भीर अध्ययन, मनन तथा चिन्तन के द्वारा ऐसा ठोस मौलिक एव महत्वपूर्ण कार्य किया है कि उनकी समता में सदियो वाद भी शायद ही किसी हिन्दी के समीक्षा-शास्त्री का नाम लिया जा सके।

बाबू गुलाबराय—श्री बाबू गुलाबराय जी हिन्दी के विद्या-वयोवृद्ध समालोचक निवन्धकारों में से हैं। आप आज निरन्तर पैंतालीस वर्ष से साहित्य-सेवा करते आ रहे हैं। द्विवेदी युग के आरम्भिक-काल से ही आपने साहित्य-सेवा का व्रत ले लिया था। तव से लेकर आज तक आपकी यह साहित्य-साधना अविराम गति से प्रौढ रूप धारण करती हुई हिन्दी के समालोचना व निवन्ध-क्षेत्र में नित्य नये वरदान देती चली आ रही है।

आपने हिन्दी-क्षेत्र में तीन रूपो में कार्य किया है—

१. दार्शनिक तत्व चिन्तक के रूप में, २. समीक्षक के रूप मे, ३ निवन्धकार के रूप में।

'कर्तव्यशास्त्र', 'तर्कशास्त्र' (तीन भाग) 'पाश्चात्य दर्शनो का इतिहास', 'शान्ति धर्म', आदि आपकी दार्शनिक रचनाएँ हैं।

'नवरस', 'प्रसाद जी की कला', 'हिन्दी काव्य-विमर्श', 'काव्य के रूप', 'सिद्धान्त और अध्ययन', 'आलोचक रामचन्द्र शुक्ल' आदि आपकी समीक्षात्मक कृतियाँ हैं। 'जीवन पथ', 'मन की वात', 'मेरी असफलताए' आदि में आपके निवन्ध संकलित हैं।

हिन्दी के अन्मान्य समीक्षा-शास्त्रियो के समान आपने भी सैद्धान्तिक और व्यावहारिक—दोनो प्रकार की समीक्षाओं के क्षेत्र में कार्य किया है। सैद्धान्तिक समालोचना के क्षेत्र में आपकी सर्वप्रथम रचना 'नवरस'

उत्पन्न करना है, यह मत बहुत ठीक कहा जा सकता है। इसी से चौंसठ कलाओं का उल्लेख हमारे यहाँ कामशास्त्र के भीतर हुआ है। पर काव्य की गिनती कलाओं में नहीं की गई।'

शुक्लजी भारतीय परम्परा के अनुसार ही 'कला, कला के लिए' सिद्धात का खण्डन करते हुए लोकमगल या शिवत्व की प्रतिष्ठा को ही काव्य का सर्वोत्कृष्ट आदर्श स्वीकार करते हैं। शुक्लजी काव्य में रस-भाव और जीवन की विविधता, पूर्णता तथा नवीन उद्भावनाओं व भाव-गाम्भीर्य के पक्षपाती थे। शुक्लजी के आदर्श थे गोस्वामी तुलसीदास। वे आशा, उत्साह, क्रोध, करुणा आदि मनोविकारो की व्याख्या करते हुए भी मनोवैश्लेषणिक आलोचको की भाँति उन मनोविकारो की स्वाभाविकता का समर्थन नही करते। मनोविकारो का प्रदर्शन लोक-कल्याण के क्षेत्र में किस प्रकार हो सकता है, उस सम्बन्ध मे विवेचन करते हुए वे कहते हैं—

'बहुत दूर तक और बहुत काल से पीडा पहुँचाते चले आते हुए किसी घोर अत्याचारी का बना रहना ही लोक की क्षमा की सीमा है। इसके आगे समान दिखाई देगी। नैराश्य, कायरता और शिथिलता की छाया दिखाई पडेगी। ऐसी गहरी उदासी की छाया के बीच आशा उत्साह और तत्परता की प्रभा जिस क्रोधाग्नि के साथ फूटती दिखाई पडेगी उसके सौन्दर्य का अनुभव सारा लोक करेगा। राम का कालाग्नि सदृश क्रोध ऐसा ही है।'

शुक्लजी का वाक्य-विन्यास अत्यन्त सुगठित है। उनके एक-एक वाक्य से उनका पाडित्यपूर्ण व्यक्तित्व तथा गम्भीरत्व एव विस्तृत चिन्तन स्पष्ट प्रकट होता है। व्यजना-शक्ति का पूर्ण विकास भी उनकी भाषा में ऐसा अनुपम हुआ है कि विज्ञ पाठक पढते-पढते तन्मय हो जाता है। आप पहले किसी विचार-सिद्धान्त या भाव को सूत्र रूप में उपस्थित कर फिर उसके व्याख्यान में तर्क, युक्ति, उदाहरण, पक्ष व प्रतिपक्ष के विचारों के उद्धरण के साथ-साथ अपनी बात का इस प्रकार निरूपण करते हैं कि हृदय

सहसा उनसे सहमत हो जाता है। कोई अत्यन्त सचेत और प्रतिभावान् पाठक ही कही उनसे अपनी असहमति व्यक्त करने का साहस कर सकता है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है व्यावहारिक और सैद्धान्तिक दोनो प्रकार की समीक्षाओ के क्षेत्र में उन्होने अपने गम्भीर अध्ययन, मनन तथा चिन्तन के द्वारा ऐसा ठोस मौलिक एव महत्वपूर्ण कार्य किया है कि उनकी समता में सदियो बाद भी शायद ही किसी हिन्दी के समीक्षा-शास्त्री का नाम लिया जा सके।

बाबू गुलाबराय—श्री बाबू गुलाबराय जी हिन्दी के विद्या-वयोवृद्ध समालोचक निबन्धकारो में से है। आप आज निरन्तर पैंतालीस वर्ष से साहित्य-सेवा करते आ रहे हैं। द्विवेदी युग के आरम्भिक-काल से ही आपने साहित्य-सेवा का व्रत ले लिया था। तब से लेकर आज तक आपकी यह साहित्य-साधना अविराम गति से प्रौढ रूप धारण करती हुई हिन्दी के समालोचना व निबन्ध-क्षेत्र मे नित्य नये वरदान देती चली आ रही है।

आपने हिन्दी-क्षेत्र में तीन रूपो में कार्य किया है—

१ दार्शनिक तत्व चिन्तक के रूप में, २. समीक्षक के रूप में, ३ निबन्धकार के रूप में।

'कर्तव्यशास्त्र', 'तर्कशास्त्र' (तीन भाग) 'पाश्चात्य दर्शनो का इतिहास', 'शान्ति धर्म', आदि आपकी दार्शनिक रचनाएँ हैं।

'नवरस', 'प्रसाद जी की कला', 'हिन्दी काव्य-विमर्श', 'काव्य के रूप', 'सिद्धान्त और अध्ययन', 'आलोचक रामचन्द्र शुक्ल' आदि आपकी समीक्षात्मक कृतियाँ हैं। 'जीवन पथ', 'मन की बात', 'मेरी असफलताए' आदि में आपके निबन्ध संकलित हैं।

हिन्दी के अन्मान्य समीक्षा-शास्त्रियो के समान आपने भी सैद्धान्तिक और व्यावहारिक—दोनो प्रकार की समीक्षाओ के क्षेत्र मे कार्य किया है। सैद्धान्तिक समालोचना के क्षेत्र में आपकी सर्वप्रथम रचना 'नवरस'

है, जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है। इस पुस्तक में प्राचीन सस्कृति के साहित्य-शास्त्र में वर्णित नवरसो का प्रतिपादन और विवेचन किया गया है। पुस्तक के नाम से तो ऐसा ज्ञात होता है कि नवरस में उसी घिसे-पिटे विषय को लेकर पुरानी लकीर पीटी गई होगी। किन्तु ग्रन्थ का अवलोकन करने पर यह धारणा भ्रान्त सिद्ध होती है। क्योकि 'नवरस' में नवरसो का विवेचन पुरानी परम्परा के आधार पर ही न होकर उसमें कुछ नवीन तत्वो व तथ्यो का समावेश भी किया गया है, जैसे कि पश्चिमीय मनोवैज्ञानिक तत्वो व तथ्यो के आधार पर नवरस सिद्धान्त का समर्थन करने का सर्वप्रथम स्तुत्य प्रयत्न बाबू जी के इस ग्रन्थ में ही हुआ है। इस सम्बन्ध में बाबू जी ने स्वय लिखा है कि इस बात का यथाशक्ति उद्योग किया है कि नवरसो के वर्णन में जो गूढ मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त अप्रस्तुत रूप से वर्त्तमान हैं, उनका पूर्णतया उद्‌घाटन कर दिया जावे। अठारह अध्यायो में विभक्त ६३४ पृष्ठ की इस पुस्तक के दुःखान्त नाटको की विवेचना वर्त्तमान युग में वीरता का क्षेत्र वीभत्स वर्णन द्वारा समाज-सुधार आदि अनेक विषयो को लेकर जो गभीर विचार किया गया है, वह इस ग्रन्थ के महत्व प्रतिपादित करने में पर्याप्त समर्थ है।

'सिद्धान्त और अध्ययन' में पूर्वी और पश्चिमी साहित्यिक सिद्धान्तो का समन्वयात्मक विवेचन किया गया है। 'काव्य के रूप' में काव्य की विविध विधाओ का विवेचन करते हुए उनका हिन्दी से सम्बन्ध ऐतिहासिक विवरण भी प्रस्तुत किया गया है।

व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में कार्य करते हुए उन्होने हिन्दी के प्रमुख कलाकारो का सक्षिप्त समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। ये समीक्षाएँ 'हिन्दी-काव्य विमर्श' आदि पुस्तको में सकलित हैं। 'साहित्य-सदेश' नामक प्रसिद्ध साहित्यिक पत्र के द्वारा भी आप हिन्दी साहित्य की महत्वपूर्ण सेवा कर रहे हैं।

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी—द्विवेदी जी हिन्दी के एक भावुक समीक्षाशास्त्री हैं। आपने छायावादी काव्य-साहित्य की जो सरस सुन्दर व्याख्या

की, उससे निश्चित ही छायावादी काव्य को पर्याप्त वल मिला है। वास्तव में आपने कवि के रूप में सर्व-प्रथम साहित्य के क्षेत्र में पदार्पण किया था। 'परिचय', 'मधु संचय', 'नीरव' और 'हिमानी' आपकी काव्य-साधना की साक्षी हैं। निवन्ध और आलोचना के क्षेत्र मे आपने 'हमारे साहित्य निर्माता', 'कवि और काव्य साहित्य', 'सचारिणी', 'युग और साहित्य', 'सामयिकी', 'ज्योति विहग' आदि रचना-रत्नो से हिन्दी-साहित्य-भण्डार की श्रीवृद्धि हुई है।

इन सभी रचनाओ में हिन्दी साहित्य तथा उसके इतिहास का सामाजिक, सास्कृतिक तथा साहित्यिक पृष्ठ-भूमि के आधार पर एक नवीन और मौलिक दृष्टिकोण से विचार करने का प्रयत्न किया गया है। 'ज्योति विहग' में पत जी के काव्य की विश्लेषणात्मक समीक्षा परक रचना है। शान्तिप्रिय जी ने विविध वादो में समन्वयात्मक दृष्टिकोण का समर्थन किया है। यद्यपि वे आर्थिक क्षेत्र में अत्यधिक पीडित और प्रताडित रहे, अत यह सम्भव था कि आप साम्यवाद और समाजवाद की ओर उन्मुख हो जायं। बीच में ऐसा प्रतीत भी हुआ कि आप समाजवादी विचारधारा की ओर आकृष्ट हो रहे हैं। किन्तु अन्ततोगत्वा आप भारतीय आदर्शों के अनुकूल गांधीवादी विचारधारा के समर्थक ही वने रहे।

जैसा कि पहले निर्देश किया गया है, शान्तिप्रिय द्विवेदी जी की सवसे वडी विशेषता उनकी अलकृत छायावादी भाषा और शैली है। इस शैली के कुछ नमूने देखिए—

'पन्त का पूर्व कवि, कठिन वचपन नहीं, कोमल वचपन लेकर आया था, उसमें मौन की श्री थी; इसीलिए उसकी कोमलता में करुणा का सस्कार भी था। उस संस्कार के विकास के लिए गंगाजल (आर्द्रता) चाहिए था, किन्तु परिस्थितियों के मरुस्थल में वह असमय ही झुलस गया।'

'पन्त के वारीक रेशमी चित्रपट को पृष्ठिका वनाकर महादेवी ने उत्सर्गशील हृदय को प्राणान्वित किया।'

'निराला गीत स्कूल अपने कलाभार के कारण अग्रसर नहीं हुआ। इधर पन्त ने खड़ी बोली को परिपूर्ण लालित्य देकर कविता से तात्कालिक विश्राम ले लिया। गीति-काव्य की इस त्रिपथगा में गोमुखी महादेवी जी ही हैं।

प्राय आपकी सम्पूर्ण समीक्षाएं इस प्रकार की वाक्यावली से परिपूर्ण हैं। पर इसका अर्थ यह नही कि आप सर्वत्र ऐसी छायावादी शैली का ही प्रयोग करते हैं। आपके अनेक निबन्धो की भाषा-शैली अत्यन्त सरल और सरस भी है। प्रस्तुत सकलन में उद्धृत 'कला में जीवन की अभिव्यक्ति' शीर्षक निबन्ध इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। द्विवेदी जी के सब निबन्धो में उनकी अपनी रुचि और सस्कारो का ही प्राधान्य है। 'पथचिन्ह', 'धरातल' और 'परिव्राजक की प्रजा' नामक आपके तीन ऐसे निबन्ध सग्रह हैं जिनमें समीक्षात्मक निबन्धो की अपेक्षा भावात्मक और विचारात्मक निबन्धो का ही प्राधान्य है। इनमें से भी अनेक व्यक्तित्व-प्रधान निबन्ध ऐसे हैं जिनका लेखक के जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

सक्षेप में कह सकते हैं कि शान्तिप्रिय जी जैसा मधुर ललित काव्यात्मक भाषा-शैली का धनी अन्य कोई समीक्षक हिन्दी साहित्य में कही दिखाई नही देता। भले ही उनकी समीक्षाओ को किसी शास्त्रीय आधार का ठोस बल प्राप्त न हो, और उनके सब मन्तव्यो से अन्य समीक्षाशास्त्रियो के मतभेद भी क्यो न हो, फिर भी यह तो मानना ही होगा कि द्विवेदी जी के निबन्धो और समीक्षाओ में सहृदय पाठको को एक स्वतन्त्र रचनात्मक साहित्य का सा आनन्द प्राप्त होता है।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—स्वर्गीय डाक्टर पीताम्बरदत्त वडथ्वाल ने 'हिन्दी काव्य में निर्गुणवाद' नामक थिसिस तथा 'योग-प्रवाह' नामक निबन्ध सग्रह के द्वारा निर्गुण सतो के सम्बन्ध में जिस महत्त्वपूर्ण शोध कार्य का प्रवर्त्तन किया, द्विवेदी जी ने अपनी साधना के द्वारा उस शोध-कार्य को आगे वढाने में महत्त्वपूर्ण योग दिया। द्विवेदी जी की प्रतिभा वहुमुखी है। 'हिंदी साहित्य की भूमिका', 'सूर-साहित्य', 'कवीर, विचार और

वितर्क', 'अशोक के फूल', 'हमारी साहित्यक समस्याएँ', 'कल्पलता' आदि कृतियो के द्वारा अपने हिंदी-जगत् में पर्याप्त ख्याति अर्जित की है, और इसी के परिणाम-स्वरूप हिंदू विश्वविद्यालय, काशी के हिंदी विभाग के अध्यक्ष पद पर आजकल आप प्रतिष्ठित हैं। विश्व-कवि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सम्पर्क एव शाति-निकेतन में निवास का आपके जीवन पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडा है।

डा० भगीरथ मिश्र—डाक्टर साहब लखनऊ विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के प्राध्यापक हैं। 'हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास' विषय पर आपकी थिसिस एक महत्वपूर्ण कृति है। इस ग्रन्थ में आरम्भ से लेकर आज तक हिन्दी में लिखे गये काव्य-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थो का ऐतिहासिक एव विवेचनात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है। पाँचवें अध्याय मे कवियो का काव्यादर्श और छठे अध्याय में काव्यशास्त्र की आधुनिक समस्याओ तथा वादो का विवेचन किया गया है। हिन्दी काव्यशास्त्र के सम्बन्ध में ऐतिहासिक सामग्री प्रस्तुत करने वाला यह अपने ढग का एक ही ग्रन्थ है। प्रस्तुत सकलन में उद्धृत 'हिन्दी में गीति-काव्य का विकास' आपका निबन्ध भी आपके पाडित्य का परिचायक है।

मुन्शी प्रेमचन्द—प्रेमचन्द जी हिन्दी में कथाकार के रूप में ही विशेष विख्यात हैं, किन्तु आपने अनेक उत्कृष्ट समीक्षात्मक तथा अन्य निबन्ध भी लिखे हैं। आपके निबन्धो का सग्रह 'कुछ विचार' नाम से प्रकाशित हो चुका है। आपके निबन्धो की संख्या परिमित है, फिर भी गुणो की दृष्टि से उनका हिन्दी में महत्वपूर्ण स्थान है। आपके अधिकतर निबन्ध साहित्यिक हैं और उनकी शैली विवेचनात्मक व विचारात्मक है। आपके निबन्धो की एक बडी विशेषता यह है कि उनमें लेखक की अनुभूति और विचार शक्ति का प्राधान्य है। ये निबन्ध उनके हृदय और मस्तिष्क के प्रतिबन्ध हैं। विषय-विवेचन तथा कला दोनो दृष्टियो से प्रेमचन्द जी के निबन्ध अपने में परिपूर्ण हैं। प्रस्तुत सकलन में उद्धृत

'उपन्यास का विषय' शीर्षक निबन्ध प्रेमचन्द जी की निबन्ध-लेखनशैली का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

श्री इलाचन्द्र जोशी—जोशी जी हिन्दी जगत् में कहानी और उपन्यासकार के रूप में विख्यात हैं किन्तु आप कवि और समीक्षा-शास्त्री भी हैं। वास्तव में आपने कवि के रूप में ही साहित्य-क्षेत्र पदार्पण किया था। वह कवि का रूप तो आपमे छूट गया पर समीक्षक का रूप उत्तरोत्तर प्रौढ होता जा रहा है।

'विवेचना' और 'विश्लेषण' नामक पुस्तको में आपके कई मनोवैश्लेषणिक तथा अन्य समीक्षा-सम्बन्धी निबन्ध सकलित हैं। जिस प्रकार हिन्दी के मनोवैश्लेषणिक उपन्यासकारो में आप प्रमुख हैं वैसे ही मनोवैश्लेषणिक समीक्षा के क्षेत्र में भी आपका स्थान विशिष्ट है।

आप पर फ्रायड के मन कल्पना सम्बन्धी सिद्धान्तो का भाव विशेष रूप से लक्षित होता है। फिर भी आप किसी मतवाद के बन्धन में न बँधकर मनोविज्ञान की व्यापकता को स्वीकार करते हैं। इतना ही नही, आगे चलकर आपने अपने विशाल अनुभव के आधार पर फ्रायड के एकाङ्गी और सकीर्ण दृष्टिकोण की कडे शब्दो में भर्त्सना भी की है।

जोशी जी मनोविश्लेषण के सिद्धान्तो के पूर्ण ज्ञाता हैं। आपने समीक्षाएँ मनोविश्लेषण के एडलर, यूग और फ्रायड इन तीनो आचार्यो में से किसी एक के मतो का अधानुगमन न कर अपनी स्वतन्त्र विवेचनात्मक प्रतिभा के आधार पर यथास्थान उनका समन्वय या प्रत्याख्यान आदि करते हुए स्वमत का प्रतिपादन किया है। जीवन की स्वस्थता के लिए मनोविश्लेषण के उपयोग की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए आपने लिखा है कि—'हम उन आदिम प्राथमिक वृत्तियो को दबाने की व्यर्थ चेष्टा करने के बजाय उन्हें सहज रूप में ग्रहण करें।'

जोशी जी ने सूरदास, गोस्वामी तुलसीदास, साकेत में उर्मिला का विरह, साहित्यकार प्रसाद, और महादेवी वर्मा का भी मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन किया है। इस प्रकार जोशी जी की समीक्षा की शैली

व चिन्तन-पद्धति उनकी अपनी है। भले ही उनसे कोई सहमत न हो, पर वे अपनी बात बेधडक कहने में कभी सकोच नही करते।

डा० नगेन्द्र—शुक्लजी ने समीक्षा के लिए विस्तृत अध्ययन, सूक्ष्म अन्वीक्षण और मर्मग्राहिणी प्रज्ञा नामक जिन तीन गुणो को आवश्यक माना है वे तीनो गुण नगेन्द्र जी में पर्याप्त परिमाण मे उपलब्ध होते हैं। नगेन्द्र जी और नन्ददुलारे वाजपेयी वर्त्तमान युग के ये दो ऐसे प्रौढ समालोचक हैं, जिनका शुक्लोत्तर हिन्दी समीक्षा को एक निर्दिष्ट दिशा की ओर अग्रसर करने में महत्वपूर्ण योग प्राप्त हुआ है। शुक्लजी की गम्भीर अध्ययनात्मक पाडित्यपूर्ण समीक्षा-पद्धति की परम्परा को स्थिर रखने वाले समीक्षको में नगेन्द्र जी का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

नगेन्द्र जी ने भी सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनो क्षेत्रो में कार्य किया है। यद्यपि सैद्धान्तिक समीक्षा सम्बन्धी किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ का आपने पारायण नही किया, तथापि स्फुट निबन्धो तथा भूमिकाओ के रूप में आपने इस क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण कार्य किया है। जैसा कि—आपने विद्वत्तापूर्ण थिसिस 'देव और उनकी कविता की भूमिका', 'रीतिकाव्य की भूमिका' के नाम से स्वतन्त्र ग्रन्थ के नाम से प्रकाशित है। इसमें रीतिकाव्य के शास्त्रीय आधार का सैद्धान्तिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त 'साहित्य की प्रेरणा', 'साहित्य और समीक्षा', 'साहित्य में कल्पना का उपयोग', 'रस का स्वरूप', साधारणीकरण' आदि इनके निबन्ध भी सैद्धातिक समीक्षा-परक ही हैं। 'हिन्दी ध्वन्यालोक', 'हिन्दी काव्यालकार सूत्र' और 'हिन्दी वक्रोक्ति जीवितम्' आदि ग्रन्थो की भूमिकाओ में प्राचीन सैद्धान्तिक विषयो का अर्वाचीन समीक्षा-पद्धति के साथ समन्वयात्मक रूप प्रस्तुत किया गया है। (ध्वन्यालोक, काव्यालकार सूत्र, और वक्रोक्ति जीवितम् इन तीनो सस्कृत के सिद्धात-ग्रन्थो की आचार्य विश्वेश्वर जी ने हिन्दी टीकाएँ लिखी, और डाक्टर साहब ने उनकी भूमिकाएँ, तत्पश्चात् भारतीय काव्यशास्त्र,

नामक एक वृहद् ग्रन्थ का सम्पादन कर उसकी भूमिका में भी सिद्धान्त का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया।

व्यावहारिक समालोचना के क्षेत्र में डा० साहब ने आज से लगभग बीस वर्ष पूर्व 'सुमित्रानन्दन पन्त' नामक रचना को लेकर प्रवेश किया था। तत्पश्चात् 'साकेत एक अध्ययन' और 'आधुनिक हिन्दी नाटक, तथा 'देव और उनकी कविता' नामक तीन प्रौढ रचनाओ के द्वारा हिन्दी जगत् को अपनी समीक्षात्मक प्रतिभा का पूरा-पूरा परिचय दिया। इनके अतिरिक्त 'विचार और विवेचन' तथा 'विचार और विश्लेषण' में भी 'पन्त जी की भूमिकाएँ', 'हिन्दी उपन्यास', 'कवीन्द्र के प्रति', 'केशवदास का आचार्यत्व', 'हिन्दी में हास्य की कमी' आदि निबन्ध भी व्यावहारिक समालोचना-परक ही हैं।

'साकेत एक अध्ययन' 'देव और उनकी कविता' आदि समीक्षा ग्रन्थों की सबसे बडी विशेषता यह है कि आलोच्य रचनाओ का कलाकार के जीवन की परिस्थितियो के साथ तारतम्य दिखाने का प्रयत्न किया गया है। कवि की प्रकृति तथा गार्हस्थिक परिस्थितियो आदि का उसकी रचना पर क्या प्रभाव पडा है, इसका विवेचन बडी कुशलतापूर्वक किया गया है। रीतिकाल की भूमिका में रीतिकालीन काव्यो की प्रमुख प्रवृत्तियो का गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत करते हुए भारतीय तथा पश्चिमी दोनो दृष्टिकोणो से प्रतिपादित विषय का स्पष्टीकरण दिया है। मूलत रसात्मक दृष्टिकोण रखते हुए भी आपने मनोवैज्ञानिक और मनोविश्लेषणिक समीक्षा-पद्धतियो की उपयोगिता को भी यथास्थान स्वीकार किया गया है। इस प्रकार डा० नगेन्द्र हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं, इसमें कुछ सन्देह नही।

कवि और कविता



—महावीरप्रसाद द्विवेदी

यह बात सिद्ध समझी गई है कि अच्छी कविता अभ्यास से नहीं आती। जिसमें कविता करने का स्वाभाविक माद्दा होता है, वही कविता कर सकता है। देखा गया है कि जिस विषय पर बड़े-बड़े विद्वान् अच्छी कविता नहीं कर सकते, उसी पर अपढ़ और कम-उम्र लड़के कभी-कभी अच्छी कविता लिख देते हैं। इससे स्पष्ट है कि किसी-किसी में कविता लिखने की स्वाभाविक शक्ति होती है, ईश्वर-दत्त होती है। जो चीज ईश्वर-दत्त है, वह अवश्य लाभदायक होगी। वह निरर्थक नहीं हो सकती। उससे समाज को कुछ-न-कुछ लाभ अवश्य पहुँचता है। अतएव यदि कोई यह समझता हो कि कविता करना व्यर्थ है तो यह उसकी भूल है। हाँ, कविता के लक्षणों से च्युत तुले हुए वर्णों या मात्राओं की पद्य नामक पंक्तियाँ व्यर्थ हो सकती हैं। आजकल प्रायः ऐसी ही पद्य-मालिकाओं का प्राचुर्य है। इससे यदि कविता को कोई व्यर्थ समझे तो आश्चर्य नहीं।

कविता यदि यथार्थ में कविता है तो सम्भव नहीं कि उसे सुनकर सुनने वाले पर कुछ असर न हो। कविता से दुनिया में आज तक बहुत बड़े-बड़े काम हुए हैं। इस बात के प्रमाण मौजूद हैं। अच्छी कविता सुनकर कविता-गत रस के अनुसार दुःख, शोक, क्रोध, करुणा और जोश आदि भाव पैदा हुए बिना नहीं रहते। जैसा भाव मन में पैदा होता है, कार्य-रूप में फल भी वैसा ही होता है। हम लोगों में पुराने जमाने में भाट, चारण आदि अपनी-अपनी कविता ही की बदौलत वीरों में वीरता

का सचार कर देते थे। पुराणादि में कारुणिक प्रसंगों का वर्णन सुनने और उत्तर-रामचरित आदि दृश्यकाव्यों का अभिनय देखने से जो अश्रुपात होने लगता है, वह क्या है ? वह अच्छी कविता ही का प्रभाव है। पुराने जमाने में ग्रीस के एथेन्स नगरवाले मेगारावालों से वैर-भाव रखते थे। एक टापू के लिए उनमें कई दफा लड़ाइयां हुईं, पर हर बार एथेन्सवालों ही की हार हुई। इस पर सोलन नाम के विद्वान् को बड़ा दुःख हुआ। उसने एक कविता लिखी। उसे उसने एक ऊंची जगह पर चढ़कर एथेन्स वालों को सुनाया। कविता का भाव यह था।

"मैं एथेन्स में न पैदा होता तो अच्छा था। किसी और देश में क्यों न पैदा हुआ ? मुझे ऐसे देश में पैदा होना था, जहाँ के निवासी मेरे भाइयों से अधिक वीर, अधिक कठोर-हृदय और उनकी विद्या से बिलकुल बेखबर होते। मै अपनी वर्तमान अवस्था की अपेक्षा उस अवस्था में अधिक सतुष्ट होता। यदि मैं किसी ऐसे देश में पैदा होता तो लोग मुझे देखकर यह तो न कहते कि यह आदमी उसी एथेन्स का रहने वाला है, जहाँ वाले मेगारा के निवासियों से लड़ाई में हार गए और मैदान से भाग निकले। प्यारे देशबन्धु ! अपने शत्रुओं से जल्द इसका बदला लो। अपने इस कलक को फौरन धो डालो। अपनी लज्जाजनक पराजय का अपयश दूर कर दो। जब तक अपने अन्यायी शत्रुओ के हाथ से अपना छिना हुआ देश न छुड़ा लो, तब तक एक मिनट भी चैन से न बैठो।" लोगों के दिल पर इस कविता का इतना असर हुआ कि फौरन मेगारावालों पर चढ़ाई कर दी गई और जिस टापू के लिए यह बखेड़ा हुआ था, उसे एथेन्स वालों ने लेकर ही चैन लिया। इस चढ़ाई में सोलन ही सेनापति बनाया गया।

रोम, इगलैंड, अरब, फारस आदि देशों में इस बात के सैकड़ों उदाहरण मौजूद हैं कि कवियों ने असम्भव बातें सम्भव कर दिखाई हैं। जहां पस्त-हिम्मती का दौर-दौरा था वहां जोश पैदा कर दिया है। जहां शान्ति थी वहां गदर मचा दिया है। अतएव कविता एक असाधारण चीज है। परन्तु विरले ही को सत्कवि होने का सौभाग्य प्राप्त होता है।

✓ जब तक ज्ञान-वृद्धि नहीं होती, जब तक सभ्यता का जमाना नहीं आता ; तभी तक कविता की विशेष उन्नति होती है ; क्योंकि सभ्यता और कविता में परस्पर विरोध है। सभ्यता और विद्या की वृद्धि होने से कविता का असर कम हो जाता है। कविता में कुछ न कुछ झूठ का अंश जरूर रहता है। असभ्य अथवा अर्द्धसभ्य लोगों को यह अंश कम खटकता है, शिक्षित और सभ्य लोगों को बहुत। तुलसीदास की रामायण के खास-खास स्थलों का जितना प्रभाव स्त्रियों पर पड़ता है, उतना पढ़े-लिखे आदमियों पर नहीं। पुराने काव्यों को पढ़ने से लोगों का चित्त जितना पहले आकृष्ट होता था, उतना अब नहीं होता। हजारों वर्ष से कविता का क्रम जारी है। जिन प्राकृत बातों का वर्णन कवि करते हैं, उनका वर्णन बहुत कुछ अब तक हो चुका। जो नए कवि होते हैं, वे भी उलट-फेर से प्रायः उन्हीं बातों का वर्णन करते हैं। इसी से अब कविता कम हृदयग्राहिणी होती है। ✓

संसार में जो बात जैसी दीख पड़े, कवि को उसे वैसे ही वर्णन करना चाहिए। उसके लिए किसी तरह की रोक या पाबन्दी का होना अच्छा नहीं। दबाव से कवि का जोश दब जाता है। उसके मन में जो भाव आप ही पैदा होते हैं, उन्हें जब वह निडर होकर अपनी कविता में प्रकट करता है, तभी उसका असर लोगों पर पूरा-पूरा पड़ता है। बनावट से कविता बिगड़ जाती है। किसी राजा या किसी व्यक्ति-विशेष के गुण-दोषों को देखकर कवि के मन में जो भाव उद्भूत हों उन्हे यदि वह बेरोक-टोक कह दे, तो उसकी कविता हृदयद्रावक हुए बिना न रहेगी। परन्तु परतन्त्रता, पुरस्कार प्राप्ति या और किसी कारण से सच बात कहने में किसी तरह की रुकावट पैदा हो जाने से, यदि उसे अपने मन की बात कहने का साहस नहीं होता तो कविता का रस जरूर कम हो जाता है। इस दशा में अच्छे कवियों की भी कविता नीरस, अतएव प्रभाव-हीन हो जाती है। सामाजिक और राजनीतिक विषयों में, कटु होने के कारण सच कहना भी जहां मना है, वहां इन विषयों पर कविता करने वाले

कवियों की उक्तियों का प्रभाव क्षीण हुए विना नहीं रहता। कवि के लिए कोई रोक न होनी चाहिए ; अथवा जिस विषय में रोक हो, उस विषय पर कविता ही न लिखनी चाहिए। नदी, तालाव, वन, पर्वत, फूल, पत्ती, गरमी, सरदी आदि ही के वर्णन में उसे सतोष करना उचित है।

खुशामद के जमाने में कविता की वुरी हालत होती है। जो कवि राजाओ, नवावो या वादशाहों के आश्रय में रहते हैं, अथवा उनको खुश करने के इरादे से कविता करते हैं, उनको खुशामद करनी पडती है। वे अपने आश्रयदाताओं की इतनी प्रसशा करते हैं, इतनी स्तुति करते हैं कि उनकी उक्तियां असलियत से बहुत दूर जा पडती हैं। इससे कविता को वहुत हानि पहुँचती है। विशेष करके शिक्षित और सभ्य देशों में। कवि का काम प्रभावोत्पादक रीति से यथार्थ घटनाओ का वर्णन करना है, आकाश-कुसुमों के गुलदस्ते तैयार करना नहीं। अलकार शास्त्र के आचार्यों ने अतिशयोक्ति एक अलकार जरूर माना है; परतु अभावोक्तियां भी क्या कोई अलकार है ? किसी कवि की वे-सिर-पैर की वातें सुन कर किस समझवार आदमी को आनन्द प्राप्त हो सकता है ? जिस समाज के लोग अपनी झूठी प्रशसा सुनकर प्रसन्न होते हैं, वह समाज कभी प्रशसनीय नहीं समझा जाता। कावुल के अमीर हबीबुल्लाखां ने अपनी कवितावद्ध निराधार प्रशसा सुनने से, अभी कुछ ही दिन हुए, इन्कार कर विया था। खुशामद-पसन्द आदमी कभी आवर की दृष्टि से नहीं देखे जाते।

कारणवश अमीरों की झूठी प्रशसा करने, अथवा किसी एक ही विषय की कविता में कवि-समुदाय के आमरण लगे रहने से कविता की सीमा कट-छँटकर वहुत थोडी रह जाती है। इस तरह की कविता उर्दू में बहुत अधिक है। यवि कहें कि आशिकाना (शृङ्गारिक) कविता के सिवा और तरह की कविता उर्दू में है ही नहीं, तो कोई अत्युक्ति न होगी। किसी दीवान को उठाइए, किसी मसनवी को उठाइए, आशिक-माशूक के रगीन रहस्यों से आप उसे आरम्भ से अत तक रगी हुई पाइएगा। इश्क भी यवि सच्चा है तो कविता में कुछ असलियत आ सकती है पर क्या

कोई कह सकता है कि आशिकाना शेर कहने वालों को सारा रोना, कराहना, ठंडी सासें लेना, जीते जी अपनी कब्रों पर चिराग़ जलाना सब सच है ? सब न सही, उनके प्रलापो का क्या थोड़ा-सा भी अंश सच है ? फिर इस तरह की कविता सैकड़ों वर्षो से होती आ रही हैं। अनेक कवि हो चुके, जिन्होंने इस विषय पर न मालूम क्या-क्या लिख डाला है। इस दशा में नए कवि अपनी कविता में नयापन कैसे ला सकते हैं ? वही तुक, वही छन्द, वही शब्द, वही उपमा, वही रूपक। इस पर भी लोग पुरानी लकीर को बराबर पीटते जाते हैं। कवित्त, सवैया, घनाक्षरी, दोहे, सोरठे लिखने से बाज नहीं आते। नख-शिख, नायिकाभेद, अलंकारशास्त्र पर पुस्तको-पर-पुस्तकें लिखते चले जाते हैं। अपनी व्यर्थ बनावटी बातो से देवी-देवताओं तक को बदनाम करने से नहीं सकुचाते। इसका फल यही हुआ कि कविता की असलियत काफूर हो गई है। उसे सुनकर सुनने वालों के चित्त पर कुछ भी असर नहीं होता। उलटे कभी-कभी मन में घृणा का उद्रेक अवश्य उत्पन्न हो जाता है।

कविता के बिगड़ने और उसकी सीमा परिमित हो जाने से साहित्य पर भारी आघात होता है। वह बरबाद हो जाता है। भाषा में दोष आ जाता है। जब कविता की प्रणाली बिगड़ जाती है, तब उसका असर सारे ग्रथकारो पर पडता है। यही क्यो, सर्व-साधारण की बोल-चाल तक मे कविता के दोष आ जाते हैं। जिन शब्दो, जिन भावों, जिन उक्तियों का प्रयोग कवि करते हैं, उन्हीं का प्रयोग और लोग भी करने लगते हैं। भाषा और बोल-चाल के सम्बन्ध में कवि ही प्रमाण माने जाते हैं। कवियो ही के प्रयुक्त शब्दों और मुहावरों को कोषकार अपने कोषों में रखते हैं। मतलब यह है कि भाषा और बोल-चाल का बनाना या बिगाडना प्राय कवियो के ही हाथ में रहता है। जिस भाषा के कवि अपनी कविता में बुरे शब्द और बुरे भाव भरते रहते हैं, उस भाषा की उन्नति तो होती नहीं, उलटे अवनति होती जाती है।

कविता-प्रणाली के बिगड जाने पर यदि कोई नई तरह की स्वाभाविक

कविता करने लगता है, तो लोग उसकी निंदा करते हैं। कुछ नासमझ और नादान आदमी कहते है—यह बड़ी भद्दी कविता है। कुछ कहते हैं, यह कविता ही नहीं। कुछ कहते हैं कि यह कविता तो "छन्दोदिवाकर" में दिये गये लक्षणों से च्युत है, अतएव यह निर्दोष नहीं। बात यह है कि जिसे वे अब तक कविता कहते आये है, वही उनकी समझ में कविता है और सब कोरी कांव-कांव। इसी तरह की नुकताचीनी से तग आकर अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि गोल्डस्मिथ् ने अपनी कविता को सम्बोधन करके उसकी सान्त्वना की है। वह कहता है—"कविते! यह बेकदरी का जमाना है। लोगों के चित्त का तेरी तरफ खिचना तो दूर रहा, उलटे सब कहीं तेरी निन्दा होती है। तेरी बदौलत सभा-समाजों और जलसों में मुझे लज्जित होना पड़ता है। पर जब मैं अकेला होता हूँ तब तुझ पर मैं घमण्ड करता हूँ। याद रख तेरी उत्पत्ति स्वाभाविक है जो लोग अपने प्राकृतिक बल पर भरोसा रखते हैं, वे निर्धन होकर भी आनन्द से रह सकते हैं। पर अप्राकृतिक बल पर किया गया गर्व कुछ दिन बाद चूर्ण हो जाता है।"

गोल्डस्मिथ ने इस विषय में बहुत कुछ कहा है, पर हमने उसके कथन का सारांश बहुत ही थोड़े शब्दों में दिया है। इससे प्रकट है कि नई कविता-प्रणाली पर भृकुटी टेढी करनेवाले कविप्रकाण्डों के कहने की कुछ भी परवाह न करके अपने स्वीकृत पथ से जरा भी इधर-उधर होना उचित नहीं। नई बातों से घबराना और उनके पक्षपातियों की निन्दा करना मनुष्य का स्वभाव ही सा हो गया है। अतएव नई भाषा और नई कविता पर यदि कोई नुकताचीनी करे तो आश्चर्य नहीं।

आजकल लोगों ने कविता और पद्य को एक ही चीज समझ रक्खा है, यह भ्रम है। कविता और पद्य में वही भेद है जो अंग्रेजी की पोइट्री (Poetry) और वर्स (Verse) में है। किसी प्रभावोत्पादक और मनोरंजक लेख, बात या वक्तृता का नाम कविता है और नियमानुसार तुली हुई सतरों का नाम पद्य है। जिस पद्य को पढ़ने या

सुनने से चित्त पर असर नहीं होता, वह कविता नहीं। वह नपी-तुली शब्दस्थापना मात्र है। गद्य और पद्य दोनों में कविता हो सकती है। तुकबन्दी और अनुप्रास कविता के लिए अपरिहार्य नहीं। संस्कृत का प्राय. सारा पद्य-समूह बिना तुकबन्दी का है और संस्कृत से बढ़कर कविता शायद ही किसी और भाषा में हो। अरब में भी सैकड़ों अच्छे-अच्छे कवि हो गए हैं। वहाँ भी शुरू-शुरू में तुकबन्दी का बिलकुल खयाल न था। अंग्रेजी में भी अनुप्रासहीन और बेतुकी कविता होती है। हां, एक बात जरूर है। इस वज़न और काफिये से कविता अधिक चित्ताकर्षक हो जाती है। पर कविता के लिए ये बातें ऐसी ही हैं जैसे शरीर के लिए वस्त्राभरण। यदि कविता का प्रधान धर्म मनोरंजकता और प्रभावोत्पादकता उसमें न हो तो इनका होना निष्फल समझना चाहिए। पद्य के लिए काफिए वगैराह की जरूरत है; कविता के लिए नहीं। कविता के लिए तो ये बातें एक प्रकार से उलटी हानिकर हैं। तुले हुए शब्दों में कविता करने और तुक, अनुप्रास आदि ढूंढने से कवियो के विचार-स्वातन्त्र्य में बड़ी बाधा आती है। पद्य के नियम कवि के लिए एक प्रकार की बेड़ियां हैं। उनसे जकड़ जाने से कवियों को अपनी स्वाभाविक उड़ान में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कवि का काम है कि वह अपने मनोभावो को स्वाधीनतापूर्वक प्रकट करे। पर काफिया और वजन उसकी स्वाधीनता में विघ्न डालते हैं। वे उसे अपने भावो को स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं प्रकट करने देते। काफिये और वजन को पहले ढूंढकर कवि को अपने मनोभाव तदनुकूल गड़ने पड़ते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि प्रधान बात अप्रधानता को प्राप्त हो जाती है, और एक बहुत ही गौण बात प्रधानता के आसन पर जा बैठती है। इससे कवि अपने भाव स्वतन्त्रता-पूर्वक नहीं प्रकट कर सकता। फल यह होता है कि कवि की कविता का असर कम हो जाता है। कभी-कभी तो वह बिलकुल ही जाता रहता है। अब आप ही कहिए जो वजन या काफ़िया कविता के लक्षण का कोई अंश नहीं, उसे ही प्रधानता देना भारी भूल है या नहीं।

जो बात एक असाधारण और निराले ढग से शब्दों के द्वारा इस
ह प्रकट की जाय कि सुनने वाले पर उसका कुछ-न-कुछ असर जरूर
उसी का नाम कविता है। आजकल हिन्दी में जो सज्जन पद्य-रचना
ते हैं और उसे कविता समझकर छपाने दौडते हैं, उनको यह बात
र याद रखनी चाहिए। इन पद्य-रचयिताओं में कुछ ऐसे भी हैं जो
ने पद्यों को कालिदास, होमर और बाईरन की कविता से भी बढ़कर
झते हैं। यदि कोई सम्पादक उन्हें प्रकाशित करने से इन्कार करता
ो वे अपना अपमान समझते हैं और बेचारे सम्पादक के खिलाफ
क, प्रहसन और व्यग्यपूर्ण लेख प्रकाशित करके अपने जी की जलन
ाते हैं। वे यह बात बिलकुल ही भूल जाते हैं कि उनकी पद्य-रचना
छी हो तो कौन ऐसा मूर्ख होगा जो उसे अपने पत्र या पुस्तक में सहर्ष
र सधन्यवाद प्रकाशित न करेगा ?

कवि का सबसे बडा गुण नई बातों का सूझना है। उसके लिए
ना (Imagination) की बडी जरूरत है। जिसमें जितनी ही
क यह शक्ति होगी, वह उतनी ही अधिक अच्छी कविता लिख
गा। कविता के लिए उपज चाहिए। नये-नये भावों की उपज जिसके
य में नहीं, वह कभी अच्छी कविता नहीं लिख सकता। ये बातें
भा की बदौलत होती हैं। इसलिए सस्कृत वालों ने प्रतिभा को
नता दी है। प्रतिभा ईश्वरदत्त होती है। अभ्यास से वह नहीं प्राप्त
ी। इस शक्ति को कवि माँ के पेट से लेकर पैदा होता है। इसकी
लत वह भूत और भविष्यत् को हस्तामलकवत् देखता है, वर्तमान
कोई बात ही नहीं। इसी की कृपा से वह सासारिक बातों को अजीब
ाले ढग से बयान करता है जिसे सुनकर सुननेवाले के हृदयोदधि में
ा प्रकार के सुख, दु ख, आश्चर्य आदि विकारों की लहरें उठने लगती

कवि कभी-कभी बहुत अद्भुत बातें कहते हैं। जो कवि नहीं हैं,
की पहुँच वहाँ तक हो ही नहीं सकती।

कवि का काम है कि वह प्रकृति-विकास को खूब ध्यान से देखे।

]

प्रकृति की लीला का कोई छोर नहीं, वह अनन्त है। प्रकृति अद्भुत-अद्भुत खेल खेला करती है। एक छोटे-से फूल में वह अजीब-अजीब कौशल दिखाती है। वे साधारण आदमियों के ध्यान में नहीं आते। वे उनको समझ ही नहीं सकते। पर कवि अपनी सूक्ष्म दृष्टि से प्रकृति के कौशल को अच्छी तरह देख लेता है; उनका वर्णन भी वह करता है, उनसे नाना प्रकार की शिक्षा भी ग्रहण करता है और अपनी कविता के द्वारा संसार को लाभ भी पहुँचाता है। जिस कवि में प्राकृतिक दृश्य और प्रकृति के कौशल देखने और समझने का जितना ही अधिक ज्ञान होता है, वह उतना ही बड़ा कवि भी होता है।

प्रकृति-पर्य्यालोचन के सिवा कवि को मानव-समाज की आलोचना का भी अभ्यास करना चाहिए। मनुष्य अपने जीवन में अनेक प्रकार के सुख-दुःख आदि का अनुभव करता है। उसकी दशा कभी एक-सी नहीं रहती। अनेक प्रकार की विचार-तरंगें उसके मन में सदा उठा ही करती हैं। इन विकारों की जांच, ज्ञान और अनुभव करना सब का काम नहीं, केवल कवि ही इसका अनुभव करने और कविता द्वारा औरों को इसका अनुभव कराने में समर्थ होता है। जिसे कभी पुत्र-शोक नहीं हुआ, उसे उस शोक का यथार्थ ज्ञान होना सम्भव नहीं। पर यदि वह कवि है तो वह पुत्र-शोकाकुल पिता या माता की आत्मा में प्रवेश-सा करके उसका अनुभव कर लेता है। उस अनुभव का इस तरह वर्णन करता है कि सुननेवाला तन्मनस्क होकर उस दुःख से अभिभूत हो जाता है। उसे ऐसा मालूम होने लगता है कि स्वयं मुझ पर ही वह दु ख पड़ रहा है। जिस कवि को मनोविकारों और प्राकृतिक बातो का यथेष्ट ज्ञान नहीं, वह कदापि अच्छा कवि नही हो सकता।

हाली के मुकदमे को पढ़कर, जिसके आधार पर यह निबन्ध लिखा गया है, हमारे एक मित्र महाशय ने अलंकारशास्त्र के कुछ आचार्यों की राय लिखी है; और संक्षेपतया यह दिखलाया है कि हमारे आलंकारिको ने कविता के लिए किन-किन बातों की जरूरत समझी है।

आपके कथन का आशय हम नीचे देते हैं। पाठक देखेंगे कि हाली की राय संस्कृत साहित्य के आचार्यों से बहुत कुछ मिलती है, सुनिए—

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतञ्च बहु निर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्या कारण काव्यसम्पद ॥

(आचार्य दण्डी—काव्यादर्श)

अर्थात् (१) स्वाभाविकी प्रतिभाशक्ति, (२) शब्द-शास्त्रादि और लोकाचारादि का विशुद्ध ज्ञान तथा (३) प्रगाढ़ अभ्यास, यह सब मिलकर काव्य-रूपी सम्पत्ति का कारण हैं। "श्रुत" शब्द के अर्थ पण्डित जीवानन्द विद्यासागर ने ये किये हैं—"श्रुत शास्त्र-ज्ञान लोकाचारादि-ज्ञानञ्च।" पद-सृष्टि-कार्य और मानवस्वभाव इन दोनों के ज्ञान का बोधक लोकाचारादि का ज्ञान है। उसका उल्लेख हाली ने अपनी दूसरी तीसरी शर्त "सृष्टि-कार्यपर्यालोचना" और "शब्दविन्यास-चातुर्य" में किया है। प्रगाढ़ अभ्यास की आवश्यकता हाली ने "आमद और आवुर्द में फ़र्क़" इस विषय पर बहस करते हुए सिद्ध की है।

इसी अभिप्राय का एक श्लोक यह भी है—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकार्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥

अर्थात् प्रतिभाशक्ति, काव्यादि शास्त्र तथा लोकाचारादि के अवलोकन से प्राप्त हुई निपुणता और काव्यज्ञों की शिक्षा के अनुसार अभ्यास, ये तीनों बातें कविता के उद्भव में हेतु हैं। कई आचार्यों ने प्रतिभा को ही काव्य का कारण मानकर, व्युत्पत्ति को उसकी सुन्दरता और अभ्यास को वृद्धि का हेतु माना है, यथा—

कवित्व जायते शक्तेर्वर्द्धतेऽभ्यासमागतम्।
तस्य चारुत्वनिष्पत्तौ व्युत्पत्तिस्तु गरीयसी ॥

इस मत की पुष्टि भी हाली के उस लेख से होती है जो उन्होंने सबसे पहली शर्त "तख़य्युल" (प्रतिभा) में लिखा है।

इन्हीं सब बातो को हाली ने अपने मुकद्दमे में, ३७ से ५४ पृष्ठ तक उदाहरणादिको से पल्लवित किया है।

सृष्टि-कार्य-निरीक्षण की आवश्यकता कवि को क्यो है? इस बात को हाली ने "मसनवी" पर बहस करते हुए, एक उदाहरण द्वारा समझाया है। वे लिखते हैं—

इसी प्रकार किस्से में ऐसी छोटी-छोटी प्रासगिक बातो का बयान करना, जिन्हें तजरबा और मुशाहिदा झुठलाते हों, कदापि उचित नहीं। इससे आख्यायिकाकार का इतना बेसलीकापन साबित नहीं होता, जितनी उसकी अज्ञात और लोक-वृत्तान्त से अनभिज्ञता या जरूरी अनुभव प्राप्त करने से बेपरवाही साबित होती है। जैसा कि "बदरे मुनीर" में एक खास मौके और वक्त का समा इस तरह बयान किया गया है—

वो गाने का आलम वो हुस्ने बुतां।
वो गुलशन की खूबी वो दिन का समां।
दरख्तो की कुछ छाँव और कुछ वो धूप।
वो धानो की सब्ज़ी वो सरसो का रूप॥

आखिरी मिसरे से यह साफ प्रतीत होता है कि एक तरफ धान खड़े थे और एक तरफ सरसों फूल रही थी। मगर यह बात वाक़े के खिलाफ है, क्योंकि धान खरीफ में होते हैं और सरसों रबी में गेहूँ के साथ बोई जाती है।

कवि-कुल-गुरु कालिदास के विश्व-विख्यात काव्य, तथा कविवर बिहारीलाल की सतसई से, इसी विषय का एक एक प्रत्युदाहरण सुनिए।

इक्षुच्छायानिपादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम्।
आकुमारकथोद्घात शालिगोप्यो जगुर्यश.॥—रघुवश।

रघु की दिग्विजयार्थ यात्रा के उपोद्घात में शरदृतु का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि ईख की छाया में बैठी हुई धान ... वाली स्त्रियाँ रघु का यश गाती थीं। शरत्काल में जब

पकते हैं, तब ईख इतनी बड़ी हो जाती है कि उसकी छाया में बैठ कर धान रखा सकें, ईख और धान के खेत भी प्रायः पास ही पास हुआ करते हैं। कवि को ये सब बातें विदित थीं। श्लोक में इस दशा का इस वास्तविक घटना का चित्र-सा खींच दिया गया है। श्लोक पढ़ते ही वह समाँ आँखों में फिरने लगता है।

महाराजाधिराज विक्रमादित्य के सखा, राजसी ठाठ से रहने वाले कालिदास ने, ग़रीब किसानों की, नगर से दूर, जंगल से सम्बन्ध रखने वाली एक वास्तविक घटना का कैसा मनोहर चित्र उतारा है! यह उनके प्रकृति-पर्यालोचक होने का दृढ़ प्रमाण है। दूसरा प्रत्युदाहरण—

सन सूक्यो बीत्यो बनौ ऊखौ लई उखारि।
हरीहरी अरहर अजौ धर धरहर हिय नारि॥

—सतसई

पहले सन सूखता है, फिर बन-बाड़ी या कपास के खेत की बहार ख़तम होती है। पुन. ईख के उखड़ने की बारी आती है और इन सबसे पीछे गेहूँ के समय तक अरहर हरी-भरी खड़ी रहती है।

ये सब बातें कवि ने कैसे सुन्दर और सरल ढंग से क्रमपूर्वक इस दोहे में बयान की हैं। इसमें अनुप्रास की छटा आदि अन्य काव्य-गुणों पर ध्यान दिलाने का यह अवसर नहीं। यहाँ तक पूर्वोक्त महाशय की राय हुई।

कविता को प्रभावोत्पादक बनाने के लिये उचित शब्द-स्थापना की भी बड़ी ज़रूरत है। किसी मनोविकार या दृश्य के वर्णन में ढूंढ-ढूंढ कर ऐसे शब्द रखने चाहिएँ जो सुनने वाले की आँखों के सामने वर्ण्य विषय का चित्र-सा खींच दें। मनोभाव चाहे कैसा ही अच्छा क्यों न हो, यदि वह तदनुकूल शब्दों में न प्रकट किया गया, तो उसका असर यदि जाता नहीं रहता तो कम ज़रूर हो जाता है। इसीलिए कवि को चुन-चुन कर ऐसे शब्द रखने चाहिएं और इस क्रम से रखने चाहिएँ, जिससे उसके मन का भाव पूरे तौर पर व्यक्त हो जाय, उसमें कसर

न पडे। मनोभाव शब्दो ही के द्वारा व्यक्त होता है। अतएव युक्ति-संगत शब्द-स्थापना के विना कवि की कविता तादृश हृदय-हारिणी नहीं हो सकती। जो कवि अच्छी शब्द-स्थापना करना नहीं जानता, अथवा यों कहिए कि जिसके पास काफी शब्द-समूह नहीं है, उसे कविता करने का परिश्रम ही न करना चाहिए। जो सुकवि हैं, उन्हें एक-एक शब्द की योग्यता ज्ञात रहती है। वे खूब जानते हैं कि किस शब्द में क्या प्रभाव है। अतएव जिस शब्द में उनका प्रभाव प्रकट करने में वाल भर भी कमी होती है, उसका वे कभी प्रयोग नहीं करते। आजकल के पद्य रचना-कर्त्ता महाशयों को इस वात का वहुत कम ख्याल रहता है, इसी से उनकी कविता, यदि अच्छे भाव से भरी हुई भी हो, तो भी वहुत कम असर पैदा करती है। जो कवि प्रति पंक्ति में निरर्थक 'सु' 'जु' और 'र' का प्रयोग करता है, वह मानो इस वात का खुद सर्टीफिकेट दे रहा है कि मेरे अधिकृत शब्द-कोष में शब्दो की कमी है। ऐसे कवियों की कविता कदापि सर्वप्रिय और प्रभावोत्पादक नहीं हो सकती।

अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध कवि मिल्टन ने कविता के तीन गुण वर्णन किये हैं। उनकी राय है कि कविता सादी हो, जोश से भरी हुई हो और असलियत से गिरी हुई न हो।

सादगी से यह मतलव नहीं कि सिर्फ शब्द-समूह ही सादा हो, वल्कि विचार-परम्परा भी सादी हो। भाषा और विचार ऐसे सूक्ष्म और छिपे हुए न हों कि उनका मतलब ही समझ में न आवे, या देर में समझ में आवे। यदि कविता में कोई ध्वनि हो तो इतनी दूर की न हो कि उसे समझने में गहरे विचार की जरूरत हो। कविता पढ़ने या सुनने वाले को ऐसी साफ-सुथरी सडक मिलनी चाहिए जिस पर कंकड़-पत्थर, टीले-खन्दक, कांटे और झाड़ियों का नाम न हो। वह खूब साफ और हमवार हो, जिससे उस पर चलने वाला आराम से चला जाय। जिस तरह सड़क पर जरा भी ऊँची-नीची होने से वाइसिकिल (पैर-गाड़ी) के सवार को धक्के लगते हैं, उसी तरह कविता की सड़क यदि थोडी भी

नाहमवार हुई तो पढ़ने वाले के हृदय पर धक्का लगे बिना नहीं रहता। कविता रूपी सड़क के इधर-उधर स्वच्छ-पानी के नदी-नाले बहते हों, दोनो तरफ फलों-फूलों से लदे हुए पेड हों, जगह-जगह पर विश्राम करने योग्य स्थान बने हों। प्राकृतिक दृश्यों की नई-नई झाडियाँ आँखो को लुभाती हों। दुनिया में आज तक जितने अच्छे-अच्छे कवि हुए हैं, उनकी कविता ऐसी ही देखी गई हैं। अटपटे भाव और अटपटे शब्द प्रयोग करने वाले कवियों की कभी कद्र नहीं हुई। यदि कभी किसी की कुछ कद्र हुई भी है तो थोडे ही दिनों तक। ऐसे कवि विस्मृति के अन्धकार में ऐसे छिप गये हैं कि इस समय उनका कोई नाम तक नहीं जानता। एक-मात्र सूखा शब्द-झकार ही जिन कवियों की करामात है, उन्हें चाहिए कि वे एकदम ही बोलना बन्द कर दें।

भाव चाहे कैसा ही ऊँचा क्यों न हो, पेचीदा न होना चाहिए। वह ऐसे शब्दों के द्वारा प्रकट किया जाना चाहिए जिनसे सब लोग परिचित हों। मतलब यह कि भाषा बोलचाल की हो; क्योंकि कविता की भाषा बोलचाल से जितनी ही अधिक दूर जा पडती है उतनी ही उसकी सादगी कम होती जाती है। बोल-चाल से मतलब उस भाषा से है जिसे खास और आम सब बोलते हैं, विद्वान् और अविद्वान् दोनों जिसे काम में लाते हैं। इसी तरह कवि को मुहावरे का ख़याल रखना चाहिए। जो मुहावरा सर्व-सम्मत हो, उसी का प्रयोग करना चाहिए। हिन्दी और उर्दू में कुछ शब्द अन्य भाषाओं के भी आ गये हैं। वे यदि बोल-चाल के हों तो उनका प्रयोग सदोष नहीं माना जा सकता। उन्हें त्याज्य नहीं समझना चाहिए। कोई-कोई ऐसे शब्दों को उनके मूल रूप में लिखना ही सही समझते हैं। पर यह उनकी भूल है। जब अन्य भाषा का कोई शब्द किसी और भाषा में आ जाता है, तब वह उसी भाषा का हो जाता है। अतएव उसे उसकी मूल भाषा के रूप में लिखते जाना भाषा-विज्ञान के नियमों के खिलाफ है। खुद 'मुहावरह' शब्द को ही देखिए। जब उसे अनेक लोग हिन्दी में 'मुहावरा' लिखने और बोलने लगे, तब उसका असल रूप जाता रहा।

वह हिन्दी का शब्द हो गया । यदि अन्य भाषाओ के बहु-प्रयुक्त शब्दों का मूल रूप ही शुद्ध माना जायगा तो घर, घड़ा, हाथ, पाँव, नाक, कान गश, मुसलमान, कुरान, मैगजीन, एडमिरल, लालटेन आदि शब्दों को भी उनके पूर्वरूप में ले जाना पड़ेगा। एशियाटिक सोसायटी के जनवरी १९०७ के जनरल मे फ्रेंच और अंग्रेजी आदि योरोपियन भाषाओ के १३८ शब्द ऐसे दिये गये हैं जो फारस के फ़ारसी अख़बारों में प्रयुक्त होते हैं। इनमें से कितने शब्दो का रूपान्तर हो गया है, अब यदि इस तरह के शब्द अपने मूल रूप में लिखे जायेगें तो भाषा में बेतरह गड़बड़ पैदा हो जायगी।

असलियत से यह मतलब नहीं कि कविता एक प्रकार का इतिहास समझा जाय और हर बात में सचाई का ख़याल रक्खा जाय। यह नहीं कि सचाई की कसौटी पर कसने से यदि कुछ भी कसर मालूम हो तो कविता का कवितापन जाता रहे। असलियत से सिर्फ इतना ही मतलब है कि कविता बे-बुनियाद न हो। उसमें जो उक्ति हो वह मानवीय मनोविकारो और प्राकृतिक नियमो के आधार पर कही गई हो, स्वाभाविकता से उसका लगाव न छूटा हो। कवि यदि अपनी या किसी की तारीफ करने लगे और यदि वह उसे सचमुच ही समझे अर्थात् यदि उसकी भावना वैसी ही हो, तो वह भी असलियत से ख़ाली नहीं, फिर चाहे और लोग उसको उलटा ही क्यों न समझते हों।

परन्तु इन बातों में भी स्वाभाविकता से दूर न जाना चाहिए, क्योकि स्वाभाविक अर्थात् नेचुरल (Natural) उक्तियाँ ही सुनने वाले के हृदय पर असर कर सकती हैं, अस्वाभाविक नहीं। असलियत को लिये हुए कवि स्वतत्रता-पूर्वक जो चाहे कह सकता है। असल बात को एक नए साँचे में ढाल कर कुछ दूर तक इधर-उधर की उड़ान भी कर सकता है, पर असलियत के लगाव को वह नहीं छोड़ता। असलियत को हाथ से जाने देना मानों कविता को प्रायः निर्जीव कर डालना है।

शब्द और अर्थ दोनो के सम्बन्ध में उसे स्वाभाविकता का अनुसरण करना चाहिए। जिस बात के कहने में लोग स्वाभाविक रीति से जैसे

और जिस क्रम से शब्दो का प्रयोग करते हैं, वैसे ही कवि को भी करना चाहिए। कविता में उसे कोई बात ऐसी न करनी चाहिए जो दुनिया में न होती हो। जो बातें हमेशा हुआ करती हैं अथवा जो बातें सम्भव हैं, वे ही स्वाभाविक हैं। अर्थ का स्वाभाविकता से मतलब ऐसी ही बातो से है।

जोश से यह मतलब है कि कवि जो कुछ कहे इस तरह कहे, मानों उसके प्रयुक्त शब्द आप-ही-आप उसके मुंह से निकल गये हैं। उनसे बनावट न ज़ाहिर हो, यह न मालूम हो कि कवि ने कोशिश करके ये बातें कही हैं, किन्तु यह मालूम हो कि उसके हृद्‌गत भावों ने कविता के रूप में अपने को प्रकट कराने के लिए उसे विवश किया है। जो कवि है उसमें जोश स्वाभाविक हो जाता है।

वर्ण्य-वस्तु को देखकर किसी अदृश्य शक्ति की प्रेरणा से वह उस पर कविता करने के लिए विवश सा हो जाता है। उसमें एक अलौकिक शक्ति पैदा हो जाती है। इसी शक्ति के बल से वह सजीव ही नहीं, निर्जीव चीजों तक का वर्णन ऐसे प्रभावोत्पादक ढग से करता है कि यदि उन चीज़ों में बोलने की शक्ति होती तो ख़ुद वे भी उससे अच्छा वर्णन न कर सकतीं।

जोश से यह मतलब नहीं कि कविता के शब्द ख़ूब ज़ोरदार और जोशीले हों। सम्भव है शब्द ज़ोरदार न हों, पर जोश उनमें छिपा हुआ हो। धीमे शब्दों में भी जोश रह सकता है और पढ़ने या सुननेवाले के हृदय पर चोट कर सकता है। परन्तु ऐसे शब्दों का कहना ऐसे-वैसे कवि का काम नहीं। जो लोग मीठी छुरी से तलवार का काम लेना चाहते हैं, वे ही धीमे शब्दों में जोश भर सकते हैं।

सादगी, असलियत और जोश, यदि ये तीनों गुण कविता में हों तो कहना ही क्या है। परन्तु बहुधा अच्छी कविता में भी एक-आध गुण की कमी पाई जाती है। कभी-कभी देखा जाता है कि कविता में केवल जोश ही रहता है और असलियत नहीं। परन्तु बिना असलियत के जोश होना बहुत कठिन है। अतएव कवि को असलियत का सब से अधिक

ध्यान रखना चाहिए।

अच्छी कविता की सब से बड़ी परीक्षा यह है कि उसे सुनते ही लोग बोल उठें कि सच कहा है। वे ही कवि सच्चे कवि हैं जिनकी कविता सुनकर लोगों के मुंह से यह उक्ति निकलती है। ऐसे ही कवि धन्य हैं, और जिस देश में ऐसे कवि पैदा होते हैं, वह देश भी धन्य है।

स्मृति-संकेत

१—अच्छी कविता ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा से बनती है, अभ्यास से नही।

२—अच्छी कविता श्रोता को अवश्य प्रभावित करती है।

३—कविता हृदय की वस्तु है, मस्तिष्क की नही। अत. बुद्धि से अधिक काम लेने वाले तार्किक लोगो को वह उतना नही प्रभावित करती जितना सरल हृदय व्यक्तियो को।

४—भय या प्रलोभन के दबाव में आकर अपने हृदय की बात न कहने से या किसी की झूठी चापलूसी से या किसी एक ही विषय के वर्णन से या एक ही शैली में रूढिग्रस्त हो जाने से कविता दूपित हो जाती है। जैसे रीतिकाल की कविता और उर्दू कविता शृगार-बाहुल्य के कारण दूषित हो गई।

५—केवल छन्दोबद्ध रचना को पद्य कहते हैं। छन्दोबद्ध होने के साथ जो रचना चमत्कारपूर्ण सरस और प्रभावशाली हो, वही कविता कहलाती है। यही कविता और पद्य में अन्तर है।

६—संस्कृत के आचार्यो और उर्दू के कवि हाली के अनुसार कवि में (क) कल्पना शक्ति या प्रतिभा, (ख) प्रकृति-निरीक्षण, (ग) मानव स्वभाव का अध्ययन और (घ) उचित शब्द-साधना का अभ्यास—ये चारो गुण आवश्यक हैं (ङ) अंग्रेजी कवि मिल्टन ने कविता में ये तीन गुण माने हैं—वह सरल हो, जोश से भरी हो, और असलियत से गिरी हुई न हो।

समाज और साहित्य



—श्यामसुन्दरदास, बी० ए०

ईश्वर की सृष्टि विचित्रताओं से भरी हुई है। जितना ही इसे देखते जाइए, इसका अन्वेषण करते जाइए, इनकी छान-बीन करते जाइए, उतनी ही नई-नई शृङ्खलाएँ विचित्रता की मिलती जायँगी। कहाँ एक छोटा-सा बीज और कहाँ उससे उत्पन्न एक विशाल वृक्ष! दोनों में कितना अन्तर और फिर दोनों का कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है, तनिक सोचिए तो सही। एक छोटे से बीज के गर्भ में क्या-क्या भरा हुआ है। उस नाममात्र के पदार्थ में एक बड़े-से-बड़े वृक्ष को उत्पन्न करने की शक्ति है जो समय पाकर पत्र, पुष्प, फल से सपन्न होकर वैसे ही अगणित बीज उत्पन्न करने में समर्थ होता है, जैसे बीज से उसकी स्वय उत्पत्ति हुई थी। सब बातें विचित्र, आश्चर्यजनक और कौतूहलवर्द्धक होने पर किसी शासक द्वारा निर्धारित नियमावली से बद्ध हैं। सब अपने-अपने नियमानुसार उत्पन्न होते, बढते, पुष्ट होते और अन्त में उस अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं, जिसे हम मृत्यु कहते हैं। पर वहीं उनकी समाप्ति नहीं है, वहीं उनका अन्त नहीं है। वे सृष्टि के कार्य-साधन में निरन्तर तत्पर हैं। मरकर भी वे सृष्टि-निर्माण में योग देते हैं। यों ही वे जीते-मरते चले जाते हैं। इन्हीं सब बातों की जाँच विकासवाद का विषय है। यह शास्त्र हमको इस बात की छान बीन में प्रवृत्त करता है और बतलाता है कि कैसे ससार की सब बातों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप से अभिव्यक्ति हुई, कैसे क्रम-क्रम

से उनकी उन्नति हुई और किस प्रकार उनकी संकुलता बढ़ती गई। जैसे संसार की भूतात्मक अथवा जीवात्मक उत्पत्ति के संबंध में विकासवाद के निश्चित नियम पूर्ण रूप से घटते हैं, वैसे ही वे मनुष्य के सामाजिक जीवन के उन्नति-क्रम आदि को भी अपने अधीन रखते हैं। यदि हम सामाजिक जीवन के इतिहास पर ध्यान देते हैं, तो हमें विदित होता है कि पहले मनुष्य असभ्य व जंगली अवस्था में थे। सृष्टि के आदि में सब आरम्भिक जीव समान ही थे, पर सब ने एक-सी उन्नति न की। प्राकृतिक स्थिति के अनुकूल जिसको जिस विषय की ओर विशेष प्रवृत्ति रही, उस पर उसी की उत्तेजना का अधिक प्रभाव पड़ा। अन्त में प्रकृति देवी ने जैसा कार्य देखा, वैसा ही फल भी दिया। जिसने जिस अवयव से कार्य लिया, उसके उसी अवयव की पुष्टि और वृद्धि हुई। साराश यह है कि आवश्यकतानुसार उनके रहन-सहन, भाव-विचार सब में परिवर्तन हो चला। जो सामाजिक जीवन पहले था, वह अब न रहा। अब उसका रूप ही बदल गया। अब नए विधान आ उपस्थित हुए। नई आवश्यकताओं ने नई चीजों के बनाने के उपाय निकाले। जब किसी चीज़ की आवश्यकता आ उपस्थित होती है, तब मस्तिष्क को उस कठिनता को हल करने के लिये कष्ट देना पड़ता है। इस प्रकार सामाजिक जीवन में परिवर्तन के साथ-ही-साथ मस्तिष्क-शक्ति का विकास होने लगा। सामाजिक जीवन के परिवर्तन का दूसरा नाम असभ्यावस्था से सभ्यावस्था को प्राप्त होना है। अर्थात् ज्यो-ज्यो सामाजिक जीवन का विकास, विस्तार और संकुलता होती गई, त्यो-त्यो सभ्यता देवी का साम्राज्य स्थापित होता गया। सभ्यावस्था सामाजिक जीवन में उस स्थिति का नाम है जब मनुष्य को अपने सुख और चैन के साथ-साथ दूसरे के स्वत्वो और अधिकारो का भी ज्ञान हो जाता है। यह भाव जिस जाति में जितना ही अधिक पाया जाता है, उतनी ही अधिक वह जाति सभ्य समझी जाती है। इस अवस्था की प्राप्ति विना मस्तिष्क के विकास के नहीं हो सकती; अथवा यह कहना

चाहिये कि सभ्यता की उन्नति साथ ही-साथ होती है। एक-दूसरे का अन्योन्याश्रय संबंध है। एक का दूसरे के बिना आगे बढ जाना या पीछे पड़ जाना असम्भव है। मस्तिष्क के विकास में साहित्य का स्थान बड़े महत्त्व का है।

जैसे भौतिक शरीर की स्थिति और उन्नति वाह्य पंचभूतो के कार्य-रूप प्रकाश, वायु, जलादि की उपयुक्तता पर निर्भर है, वैसे ही समाज के मस्तिष्क का बनना-बिगडना साहित्य की अनुकूलता पर अवलंबित है ; अर्थात् मस्तिष्क के विकास और वृद्धि का मुख्य साधन साहित्य है।

सामाजिक मस्तिष्क अपने पोषण के लिए जो भाव-सामग्री निकाल कर समाज को सौंपता है, उसके संचित भंडार का नाम साहित्य है। अत किसी जाति के साहित्य को हम उस जाति की सामाजिक शक्ति या सभ्यता-निर्देशक कह सकते हैं। वह उसका प्रतिरूप, प्रतिच्छाया या प्रतिबिम्ब कहला सकता है। जैसी उसकी सामाजिक अवस्था होगी, वैसा ही उसका साहित्य होगा। किसी जाति के साहित्य को देखकर हम यह स्पष्ट बता सकते हैं कि उसकी सामाजिक अवस्था कैसी है ; वह सभ्यता की सीढ़ी के किस डंडे तक चढ़ सकी है। साहित्य का मुख्य उद्देश्य विचारों के विधान तथा घटनाओं की स्मृति संरक्षित रखना है। पहले-पहल अद्भुत बातों के देखने से जो मनोविकार उत्पन्न होते हैं, उन्हें वाणी द्वारा प्रदर्शित करने की स्फूर्ति होती है। धीरे-धीरे युद्ध के वर्णन, अद्भुत घटनाओं के उल्लेख और कर्मकाण्ड के विधानों तथा नियमों के निर्धारण में वाणी का विशेष स्थायी रूप में उपयोग होने लगता है। इस प्रकार वह सामाजिक जीवन का एक प्रधान अंग हो जाती है। एक विचार को सुन या पढ़कर दूसरे विचार उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार विचारों की एक शृङ्खला हो जाती है जिससे साहित्य के विशेष-विशेष अंगों की सृष्टि होती है। मस्तिष्क को क्रियमाण रखने तथा उसके विकास और वृद्धि में सहायता पहुँचाने के लिये

साहित्य-रूपी भोजन की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार का यह भोजन होगा, वैसी ही मस्तिष्क की स्थिति होगी। जैसे शरीर की स्थिति और वृत्ति के अनुकूल आहार की अपेक्षा होती है, उसी प्रकार मस्तिष्क के विकास के लिए साहित्य का प्रयोजन होता है। मनुष्य के विचारों पर प्राकृतिक अवस्था का बहुत भारी प्रभाव पड़ता है। शीत-प्रधान देशो में अपने को जीवित रखने के लिए निरन्तर परिश्रम करने की आवश्यकता रहती है। ऐसे देशों में रहनेवाले मनुष्यो का सारा समय अपनी रक्षा के उपायो के सोचने और उन्हीं का अवलंबन करने में बीत जाता है। अतएव क्रम-क्रम से उन्हें सांसारिक बातों से अधिक सकता हो जाती है, और वे अपने जीवन का उद्देश्य सासारिक वैभव प्राप्त करना ही मानने लगते हैं। जहां इसके प्रतिकूल अवस्था हो, वहाँ आलस्य का प्राबल्य होता है। जब प्रकृति ने खाने, पीने, पहनने, ओढने का सब सामान प्रस्तुत कर दिया, तब फिर उसकी चिंता ही कहाँ रह जाती है! भारत-भूमि को प्रकृति-देवी का प्रिय और प्रकाड क्रीडाक्षेत्र समझना चाहिए। यहाँ सब ऋतुओं का आवागमन होता रहता है। जल की यहाँ प्रचुरता है। भूमि इतनी उर्वरा है कि सब कुछ खाद्य-पदार्थ उत्पन्न हो सकते हैं। फिर इनकी चिंता यहाँ के निवासी कैसे कर सकते हैं? इस अवस्था में या तो सासारिक बातो से जीव जीवात्मा और परमात्मा की ओर लग जाता है, अथवा विलासप्रियता में फँस कर इन्द्रियों का शिकार बन बैठता है। यही मुख्य कारण है कि यहां का साहित्य धार्मिक विचारों या शृङ्गार रस के काव्यो से भरा हुआ है, अस्तु, इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि मनुष्य की सामाजिक स्थिति के विकास में साहित्य का प्रधान योग रहता

यदि ससार के इतिहास की ओर हम ध्यान देते हैं
भली-भाँति विदित होता है कि साहित्य ने
स्थिति में कैसा परिवर्तन कर दिया है। पाश्चात्य
धर्म-सबधी शक्ति पोप के हाथ में आ गई थी

इस शक्ति का बड़ा दुरुपयोग होने लगा। अतएव जब पुनरुत्थान ने वर्तमान काल का सूत्रपात किया, यूरोपीय मस्तिष्क स्वतन्त्रता-देवी की आराधना में रत हुआ, तब पहला काम जो उसने किया वह धर्म-विरुद्ध विद्रोह खड़ा करना था। इसका परिणाम यह हुआ कि यूरोपीय कार्यक्षेत्र से धर्म का प्रभाव हटा और व्यक्तिगत स्वातंत्र्य की लालसा बढ़ी। यह कौन नहीं जानता कि फ्रांस की राज्य-क्रांति का सूत्रपात रूसो और वालटेयर के लेखों ने किया और इटली के पुनरुत्थान का बीज मेज़िनी के लेखों ने बोया। भारतवर्ष में भी साहित्य का प्रभाव इसकी अवस्था पर कम नहीं पड़ा। यहाँ की प्राकृतिक अवस्था के कारण सासारिक चिंता ने लोगों को अधिक न ग्रसा। उनका विशेष ध्यान धर्म की ओर रहा। जब-जब उसमें अव्यवस्था और अनीति की वृद्धि हुई, नए विचारों, नई सस्थाओं की सृष्टि हुई। बौद्ध धर्म और आर्यसमाज का प्राबल्य और प्रचार ऐसी ही स्थिति के बीच हुआ। इसलाम और हिंदू-धर्म जब परस्पर पड़ोसी हुए, तब दोनों में से कूप-मंडूकता का भाव निकालने के लिये कबीर, नानक आदि का प्रादुर्भाव हुआ। अत' यह स्पष्ट है कि मानव जीवन की सामाजिक उन्नति में साहित्य का स्थान बड़े गौरव का है।

✓ अब यह प्रश्न उठता है कि जिस साहित्य के प्रभाव से ससार में इतने उलट-फेर हुए हैं, जिसने यूरोप के गौरव को बढ़ाया, जो मनुष्य-समाज का हित-विधायक मित्र है, वह क्या हमें राष्ट्र-निर्माण में सहायता नहीं दे सकता ? क्या हमारे देश की उन्नति करने में हमारा पथ-प्रदर्शक नहीं हो सकता ? हो अवश्य सकता है, यदि हम लोग जीवन के व्यवहार में उसे अपने साथ लेते चलें, उसे पीछे न छूटने दें। यदि हमारे जीवन का प्रवाह दूसरी ओर है, तब हमारा प्रकृति-सयोग ही नहीं हो सकता। ✓

अब तक वह जो हमारा सहायक नहीं हो सका है, इसके दो मुख्य कारण हैं। एक तो इस सस्कृत देश की स्थिति एकान्त रही है और दूसरे इसके प्राकृतिक वैभव का पारावार नहीं है। इन्हीं कारणों से

इसमें संघ-शक्ति का सञ्चार जैसा चाहिए, वैसा नहीं हो सकता और यह अब तक आलसी और सुख-लोलुप बना हुआ है। परन्तु अब इन अवस्थाओं में परिवर्तन हो चला है। इसके विस्तार की दुर्गमता और स्थिति की एकान्तता को आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों ने एक प्रकार से निर्मल कर दिया है; और प्राकृतिक वैभव का लाभालाभ बहुत कुछ तीव्र जीवन-संग्राम की सामर्थ्य पर निर्भर है। यह जीवन-सग्राम दो भिन्न सभ्यताओं के संघर्षण से और भी तीव्र और दु:खमय प्रतीत होने लगा है। इस अवस्था के अनुकूल ही जब साहित्य उत्पन्न होकर समाज के मस्तिष्क को प्रोत्साहित, प्रतिक्रियमाण करेगा, तभी वास्तविक उन्नति के लक्षण देख पड़ेंगे और उसका कल्याणकारी फल देश को आधुनिक काल का गौरव प्रदान करेगा।

अब विचारणीय बात यह है कि वह साहित्य किस प्रकार का होना चाहिए जिससे कथित उद्देश्य की सिद्धि हो सके? मेरे विचार के अनुसार इस समय हमें विशेषकर ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जो मनोवेगों का परिष्कार करनेवाला, सजीवनी शक्ति का सञ्चार करनेवाला, चरित्र को सुन्दर साँचे में ढालनेवाला तथा बुद्धि को तीव्रता प्रदान करनेवाला हो। साथ ही इस बात की भी आवश्यकता है कि यह साहित्य परिमार्जित, सरस और ओजस्विनी भाषा में तैयार किया जाय। इसको लोग स्वीकार करेंगे कि ऐसे साहित्य का हमारी हिन्दी भाषा में अभी तक बड़ा अभाव है। पर शुभ लक्षण चारों ओर देखने में आ रहे हैं। यह दृढ़ आशा होती है कि थोड़े ही दिनो में उसका उदय दिखाई पडेगा जिससे जन-समुदाय की आँखें खुलेंगी और भारतीय जीवन का प्रत्येक विभाग ज्ञान की ज्योति से जगमगा उठेगा।

मैं थोड़ी देर के लिए आपका ध्यान हिन्दी के गद्य और पद्य की ओर दिलाना चाहता हूँ। यद्यपि भाषा के दोनो अंगो की पुष्टि का प्रयत्न हो रहा है, पर दोनों की गति समान रूप से व्यवस्थित नहीं दिखाई देती। गद्य का रूप अब एक प्रकार से स्थिर हो चुका है। उसमें जो कुछ व्यतिक्रम

या व्याघात दिखाई पड जाता है, वह अधिकांश अवस्थाओं में मतभेद के कारण नहीं, बल्कि अनभिज्ञता के कारण होता है। ये व्याघात वा व्यतिक्रम प्रांतिक शब्दों के प्रयोग, व्याकरण के नियमों के उल्लघन आदि के रूप में ही अधिकतर दिखाई पडते हैं। इनके लिए कोई मत सबधी विवाद नहीं उठ सकता। इनके निवारण के लिए केवल समालोचकों की तत्परता और सहयोगिता की आवश्यकता है। इस कार्य में केवल व्यक्तिगत कारणों से समालोचकों को दो पक्षों में नहीं बाँटना चाहिए।

गद्य के विषय में इतना कह चुकने पर उसके आदर्श पर थोडा विचार कर लेना भी आवश्यक जान पड़ता है। इसमें कोई मतभेद नहीं कि जो हिन्दी गद्य के लिए ग्रहण की गई है, वह दिल्ली और मेरठ प्रान्त की है।

यद्यपि हमारे गद्य की भाषा मेरठ और दिल्ली के प्रान्त की है, पर साहित्य की भाषा हो जाने के कारण उसका विस्तार और प्रान्तों में भी हो गया है। अत. वह उन प्रान्तों के शब्दों का भी अभावपूर्ति के निमित्त अपने में समावेश करेगी। यदि उसके जन्मस्थान में किसी वस्तु का भाव व्यजित करने के लिए शब्द नहीं हैं तो वह दूसरे प्रान्त से, जहाँ उसका शिष्ट समाज या साहित्य में प्रवेश है, शब्द ले सकती है। पर यह बात ध्यान रखने की है कि वह केवल अन्य स्थानों के शब्द-मात्र अपने में मिला सकती है, प्रत्यय आदि नहीं ग्रहण कर सकती।

अब पद्य की शैली पर भी कुछ ध्यान देना चाहिए। भाषा का उद्देश्य यह है कि एक का भाव दूसरा ग्रहण करके अपने अन्त करण में भावों की अनेक-रूपता का विकास करे।

ये भाव साधारण भी होते हैं और जटिल भी। अतः जो लेख साधारण भावो को प्रकट करता है, वह साधारण ही कहलावेगा, चाहे उसमें सारे सस्कृत कोषों को ढूंढ-ढूंढ कर शब्द रखे गये हों, और चार-चार अगुल के समास बिछाये गये हों। पर जो लेख ऐसे जटिल भावों

को प्रकट करेंगे, जो अपरिचित होने के कारण अन्तःकरण में जल्दी न घसेंगे, वे उच्च कहलावेंगे, चाहे उनमें बोल-चाल के साधारण शब्द ही क्यो न भरे हो। ऐसे ही लेखों के बीच, जो नए-नए भावों का विकास करने में समर्थ हो, जो इनके जीवन-क्रम को उलटने-पलटने की क्षमता रखता हो, वही सच्चा साहित्य है। अतः लेखकों को अब इस युग में बाण और दण्डी होने की आकांक्षा उतनी न करनी चाहिए जितनी वाल्मीकि और व्यास होने की, बर्क, कारलाइल और रस्किन होने की।

कविता का प्रवाह आजकल दो मुख्य धाराओ में विभक्त हो गया है। खडीबोली की कविता का आरम्भ थोडे ही दिनों से हुआ है, अतः अभी उसमें उतनी शक्ति और सरसता नहीं आई है, पर आशा है कि उचित पथ अवलम्बन द्वारा वह धीरे-धीरे आ जायगी। खड़ीबोली में जो अधिकाश कविताएँ और पुस्तकें लिखी जाती हैं, वे इस बात का ध्यान रख कर नहीं लिखी जातीं कि कविता की भाषा और गद्य की भाषा में भेद होता है। कविता की शब्दावली कुछ विशेष ढग की होती है। उसके वाक्यों का रूपरंग कुछ निराला है। किसी साधारण गद्य को नाना छन्दों में ढाल देने ही से उसे काव्य का रूप नहीं प्राप्त हो जायगा। अतः कविता की जो सरस और मधुर शब्दावली ब्रजभाषा में चली आ रही है, उसका बहुत कुछ अंश खड़ीबोली में रखना पड़ेगा। भाव-वैलक्षण्य के सम्बन्ध में जो बातें गद्य के प्रसंग में कही जा चुकी हैं, वे कविता के विषय में भी ठीक घटती हैं। विना भाव की कविता ही क्या? खड़ीबोली की कविता के प्रचार के साथ कार्यक्षेत्र में जो अनधिकार-प्रवेश की प्रवृत्ति अधिक हो रही है, वह ठीक नहीं। कविता का अभ्यास आरम्भ करने के पहले अपनी भाषा के बहुत से नए-पुराने काव्यो की शैली का मनन करना, रीति-ग्रन्थो का देखना, रस, अलकार आदि से परिचित होना आवश्यक है।

स्मृति-संकेत

१—विकासवाद के सिद्धान्तानुसार सभ्यता का भी धीरे-धीरे विकास हुआ है।

२—किसी समाज की सभ्यता का ज्ञान उसके साहित्य से होता है।

३—प्राकृतिक परिस्थितियाँ समाज को प्रभावित करती हैं और समाज के अनुसार ही साहित्य निर्मित होता है। इसके विपरीत साहित्य भी सदा से समाज को प्रभावित करता आया है।

४—जीवन को उत्साहित और आदर्श बनाने वाला साहित्य ही सत्-साहित्य है। आज हमें ऐसे ही साहित्य की आवश्यकता है।

५—हिन्दी खडीबोली गद्य और पद्य की भाषा के स्वरूप का आदर्श सुस्थिर होते हुए भी उसमें यथोचित सस्कार होते रहना चाहिए।

छायावाद की परिभाषा



—नगेन्द्र एम० ए०, डी० लिट०

आज से बीस-पच्चीस वर्ष पूर्व युग की चेतना ने बाह्य अभिव्यक्ति से निराश होकर जो आत्मबद्ध अन्तर्मुखी साधना आरम्भ की वह काव्य में छायावाद के रूप में अभिव्यक्त हुई। जिन परिस्थितियों ने हमारी कर्म-वृत्ति को अहिंसा की ओर प्रेरित किया उन्होंने भाव-वृत्ति को छायावाद की ओर। उसके मूल में स्थूल से विमुख होकर सूक्ष्म के प्रति आग्रह था।

पिछले महासमर के उपरान्त यूरोप के जीवन में एक निस्सार खोखलापन आ गया था। जीवन के प्रति विश्वास ही नष्ट हो गया था। परन्तु भारत में आर्थिक पराभव के होते हुए भी जीवन में एक स्पन्दन था। भारत की उद्बुद्ध चेतना युद्ध के बाद अनेक आशाएँ लगाये बैठी थी। उसमें स्वप्न की चञ्चलता थी। वास्तव में भारत की आत्म-चेतना का यह किशोर काल था जब अनेक इच्छा-अभिलाषाएँ उड़ने के लिए पंख फड़फड़ा रही थीं। भविष्य की रूप-रेखा नहीं बन पाई थी, परन्तु उसके प्रति मन में इच्छा जग गई थी। पश्चिम के स्वच्छन्द विचारों के सम्पर्क से राजनीतिक और सामाजिक बन्धनों के प्रति असन्तोष की भावना मधुर उभार के साथ उठ रही थी, भले ही उनको तोड़ने का निश्चित विधान अभी मन में नहीं आ रहा था। राजनीति में ब्रिटिश साम्राज्य की अचल सत्ता और समाज में सुधारवाद की दृढ नैतिकता असन्तोष और विद्रोह की इन भावनाओं को बहिर्मुखी अभिव्यक्ति का अवसर नहीं देती थीं। निदान वे अन्तर्मुखी होकर धीरे-धीरे अवचेतन में जाकर बैठ रही थीं,

स्मृति-संकेत

१—विकासवाद के सिद्धान्तानुसार सभ्यता का भी धीरे-धीरे विकास हुआ है।

२—किसी समाज की सभ्यता का ज्ञान उसके साहित्य से होता है।

३—प्राकृतिक परिस्थितियाँ समाज को प्रभावित करती हैं और समाज के अनुसार ही साहित्य निर्मित होता है। इसके विपरीत साहित्य भी सदा से समाज को प्रभावित करता आया है।

४—जीवन को उत्साहित और आदर्श बनाने वाला साहित्य ही सत्-साहित्य है। आज हमें ऐसे ही साहित्य की आवश्यकता है।

५—हिन्दी खड़ीबोली गद्य और पद्य की भाषा के स्वरूप का आदर्श सुस्थिर होते हुए भी उसमें यथोचित संस्कार होते रहना चाहिए।

छायावाद की परिभाषा



—नगेन्द्र एम० ए०, डी० लिट०

आज से बीस-पच्चीस वर्ष पूर्व युग की चेतना ने वाह्य अभिव्यक्ति से निराश होकर जो आत्मबद्ध अन्तर्मुखी साधना आरम्भ की वह काव्य में छायावाद के रूप में अभिव्यक्त हुई। जिन परिस्थितियों ने हमारी कर्म-वृत्ति को अहिंसा की ओर प्रेरित किया उन्होंने भाव-वृत्ति को छायावाद की ओर। उसके मूल में स्थूल से विमुख होकर सूक्ष्म के प्रति आग्रह था।

पिछले महासमर के उपरान्त यूरोप के जीवन में एक निस्सार खोखलापन आ गया था। जीवन के प्रति विश्वास ही नष्ट हो गया था। परन्तु भारत में आर्थिक पराभव के होते हुए भी जीवन में एक स्पन्दन था। भारत की उद्‌बुद्ध चेतना युद्ध के बाद अनेक आशाएँ लगाये बैठी थी। उसमें स्वप्न की चञ्चलता थी। वास्तव में भारत की आत्म-चेतना का यह किशोर काल था जब अनेक इच्छा-अभिलाषाएँ उड़ने के लिए पंख फड़फड़ा रही थीं। भविष्य की रूप-रेखा नहीं बन पाई थी, परन्तु उसके प्रति मन में इच्छा जग गई थी। पश्चिम के स्वच्छन्द विचारो के सम्पर्क से राजनीतिक और सामाजिक बन्धनो के प्रति असन्तोष की भावना मधुर उभार के साथ उठ रही थी, भले ही उनको तोड़ने का निश्चित विधान अभी मन में नहीं आ रहा था। राजनीति में ब्रिटिश साम्राज्य की अचल सत्ता और समाज में सुधारवाद की दृढ नैतिकता असन्तोष और विद्रोह की इन भावनाओं को वहिर्मुखी अभिव्यक्ति का अवसर नहीं देती थीं। निदान वे अन्तर्मुखी होकर धीरे-धीरे अवचेतन में जाकर बैठ रही थीं,

परिणत हो गया है। इसी कौतूहल ने छायावाद के कवि और नारी के व्यक्तित्व के बीच अनेक रेशमी झिलमिल पर्दे डाल दिये हैं; और वास्तव में छायावाद के झिलमिल काव्य-चित्रों का मूल उद्गम ये ही झिलमिल पर्दे हैं। उसके मायवी रूप-रङ्ग का वैभव इन्हीं से उत्कीर्ण होता है और इन्हीं पर आश्रित होने के कारण छायावाद की काव्य-सामग्री से अधिकांश प्रतीक काम-प्रतीक हैं।

प्रकृति पर चेतना का आरोप—छायावाद में प्रकृति के चित्रों की प्रचुरता है। कुछ विद्वानों की तो यह धारणा है कि छायावाद का प्राणतत्त्व ही प्रकृति का मानवीकरण अर्थात् प्रकृति पर मानव-व्यक्तित्व का आरोप है।

यह सत्य है कि छायावाद में प्रकृति को निर्जीव चित्राधार अथवा उद्दीपक वातावरण न मानकर ऐसी चेतन-सत्ता माना है जो अनादि काल से मानव के साथ स्पन्दनों का आदान-प्रदान करती रही है। परन्तु फिर भी प्रकृति पर मानव व्यक्तित्व का आरोप छायावाद की मूल प्रवृत्ति नहीं है, क्योंकि स्पष्टत. छायावाद प्रकृति-काव्य नहीं है। और इसका प्रमाण यह है कि छायावाद में प्रकृति का चित्रण नहीं है वरन् प्रकृति के स्पर्श से मन में जो छाया-चित्र उठें उनका चित्रण है।

जो प्रवृत्ति प्रकृति पर मानव व्यक्तित्व का आरोपण करती है, वह कोई विशेष प्रवृत्ति नहीं है, वह मन की कुण्ठित वासना ही है जो अव-चेतन में पहुँचकर सूक्ष्म रूप धारण कर प्राकृतिक प्रतीको के द्वारा अपने को व्यक्त करती है। निदान प्रकृति का उपयोग यहां दो रूपों में हुआ है। एक कोलाहल-मय जीवन से दूर शान्त स्निग्ध विश्राम-भूमि के रूप में और दूसरे प्रतीक रूप में। रूप, ऐश्वर्य और स्वच्छन्दता जो जीवन में नहीं मिल सके वह प्रकृति में प्रचुर मात्रा में मिले, अतएव कवि की मनोकामनाएँ बार-बार उसी के मधुर अञ्चल में खेलने लगीं और प्रकृति के प्रति आकर्षण बढ़ जाने से स्वभावत उसी के प्रतीक भी अधिक रुचिकर और प्रेय हुए।

मूल दर्शन—जैसा सुश्री महादेवी वर्मा ने कहा है, छायावाद का मूलदर्शन सर्वात्मवाद है—प्रकृति के अन्तर में प्राण-चेतना की भावना करना सर्वात्मवाद की ही स्वीकृति है। उन्होने वैदिक ऋचाओ से समानान्तर उद्धरण देकर यह स्थापित किया है कि प्रकृति में स्पन्दित जीवन-चेतना की पहचान भारतीय कवि के लिए नवीन न होकर अत्यन्त प्राचीन है—सनातन से चली आ रही है।

'छायावाद में समस्त जड़-चेतन को मानव-चेतना से स्पन्दित मानकर अङ्कित किया गया है, और इस भावना को यदि कोई दार्शनिक रूप दिया जायगा तो वह निश्चय ही सर्वात्मवाद होगा। परन्तु क्रम का भेद है। छायावाद का कवि आरम्भ से ही सर्वात्मवाद की अनुभूति से प्रेरित नहीं हुआ है। उसकी प्रेरणा उसकी कुण्ठित वासनाओं मे से ही आई है, सर्वात्मवाद की रहस्यानुभूति से नहीं, यह निर्विवाद है। इसे न मानना प्रत्यक्ष का निषेध करना है। और इसका प्रमाण यह है कि पल्लव, नीहार, परिमल, आँसू आदि की मूलवर्ती वासना अप्रत्यक्ष और सूक्ष्म तो अवश्य है परन्तु सर्वथा उदात्त और आध्यात्मिक नहीं है।

आज के बुद्धिजीवी कवि के लिए वासना को सूक्ष्मतर करना तो साधारणतः सम्भव है, परन्तु आध्यात्मिक अनुभूति का होना उसके लिए सहज सम्भव नहीं है, और यह स्वीकार करने में किसी को भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि गत युद्ध के बाद जिन कवियो के हृदयो से छायावाद की कविता उद्भूत हुई, उन पर किसी प्रकार आध्यात्मिक अनुभूति का आरोप नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त उस अवस्था में तो कोई विशेष परिष्कृति भी सम्भव नहीं थी—वह उन कवियों का तारुण्य था जब मन की सहज भावनाएँ अभिव्यक्ति के लिए आकुल हो रही थीं। बाद में प्रसाद या महादेवी भारतीय अध्यात्म-दर्शन के सहारे, अथवा पन्त देश-विदेश के भौतिक सर्वहितवादी दर्शनो के आधार पर, उसे परिशुद्ध एव संस्कृत भले ही कर पाये हो, परन्तु आरम्भ से ही कोई दिव्य प्रेरणा उन्हें थी, यह मानना असत्य होगा।

अतएव प्रकृति पर मानवता का आरोप कम-से-कम आरम्भ में तो श्रय ही अनुभूति का तत्त्व न होकर अभिव्यक्ति का प्रकार था। शृङ्गार और स्वच्छन्दता की भावनाएँ जिन्हें परिस्थिति के अनुरोध से प्रकृत रूप में अभिव्यक्त करना सम्भव नहीं था, प्रकृति के रूपकों से अन्योक्ति आदि के द्वारा व्यक्त होती थीं। बस इसके अतिरिक्त उपर्युक्त प्रवृत्ति की कोई भी मनोवैज्ञानिक व्याख्या सम्भव नहीं। सर्वात्मवाद का बुद्धि-द्वारा ग्रहण तो सहज सम्भव है परन्तु उसकी अनुभूति के लिए उस समय छायावाद के किसी भी कवि को चैलेंज किया जा सकता था। उस समय स्वच्छन्द छायानुभूतियों से छायावाद का निर्माण हो रहा था, जो एक विशिष्ट परिस्थिति में विशिष्ट सस्कार के कवियों की जीवन के प्रति सहज प्रतिक्रिया थी, प्रगतिवाद की तरह किसी ठोस वज़नी बौद्धिक जीवन-दर्शन से मन को टकरा-टकरा कर प्रेरणा नहीं ली जा रही थी।

यही बात रहस्यानुभूति के विषय में कही जा सकती है। बहिरङ्ग जीवन से सिमट कर जब कवि की चेतना ने अन्तरङ्ग में प्रवेश किया तो कुछ बौद्धिक जिज्ञासाएँ—जीवन और मरण-सम्बन्धी, प्रकृति और पुरुष सम्बन्धी, आत्मा और विश्वात्मा सम्बन्धी—काव्य में आ जाना सम्भव ही था, और वे आईं। कुछ आध्यात्मिक क्षण तो प्रत्येक भावुक के जीवन में आते ही हैं। अतएव छायावाद की रहस्योक्तियाँ एक प्रकार से जिज्ञासाएँ ही हैं। वे धार्मिक साधना पर आश्रित न होकर कहीं भावना, कहीं चिन्तन और कहीं केवल मन की छलना पर ही आश्रित हैं।

छायावाद के ये ही मूल तन्तु हैं। इन्हीं में अभिन्न रूप से गुँथा हुआ आपको विषाद का नीला तन्तु भी मिलेगा जो असन्तोष और कुण्ठा का परिणाम है। परन्तु यह विषाद सन्ध्या की कालिमा न होकर प्रत्यूष की चित्रित नीहारिका है। इसमें घुमडन है, नीरजा के विषाद और निशा-निमन्त्रण के विषाद की तुलना मेरे आशय को स्पष्ट कर देगी। इसका कारण यह है कि छायावाद की दुनिया अननुभूत दुनिया

थी। बच्चन के समय तक आकर वह अधिक जीवन-गत (अनुभूत) हो चुकी थी। अत छायावाद की निराशा भी अनुभूत होने के कारण श्रान्त और जर्जर नहीं हो गई थी; वह स्पन्दित और स्फूर्त थी। छायावाद के चिर-उपहासित पीडा-प्रेम का यही व्याख्यान है।

आन्तियाँ—छायावाद के विषय में तीन प्रकार की आन्तियां हैं।

पहला भ्रम उन लोगो ने फैलाया है जो छायावाद और रहस्यवाद में अन्तर नहीं कर पाते। आरम्भ में छायावाद का यही दुर्भाग्य रहा। उस समय के आलोचक इसी भ्रम का पोषण करते हुए उसे कोसते रहे।

यद्यपि आज यह भ्रम प्राय निर्मूल हो गया है तो भी छायावाद के कतिपय कवि और समर्थक छायावाद के सुकुमार शरीर पर से आध्यात्मिक चिन्तन का मृगचर्म उतारने को तय्यार नहीं हैं। डा० रामकुमार जी आज भी कबीर के योग की शब्दावली में अपने काव्य का व्याख्यान करते हैं। महादेवीजी की कविता के उपासक अब भी प्रकृति और पुरुष के रूपको में उलझे बिना उसका महत्व समझने में असमर्थ हैं। यहाँ तक कि स्वयं महादेवीजी ने भी छायावाद के ऊपर सर्वात्मवाद का भारी बोझ लाद दिया है।

इसके विरोध में, जैसा मैंने अभी कहा, एक प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि छायावाद एक बौद्धिक युग की सृष्टि है। उसका जन्म साधना से—यहां तक कि अखण्ड आध्यात्मिक विश्वास से भी—नहीं हुआ। अतएव उसके रूपकों और प्रतीको को यथातथ्य मानकर उस पर रहस्य-साधना अथवा रहस्यानुभूति का आरोप करना अनर्थ करना है, आन्तियों का पोषण करना है।

दूसरी आन्ति उन आलोचको की फैलाई हुई है जो मूल-वर्तिनी विशिष्ट परिस्थितियों का अध्ययन न कर सकने के कारण—और उन अपराधियो में मैं भी हूँ—केवल बाह्य के आधार पर छायावाद को यूरोप के रोमांटिक काव्य सम्प्रदाय से अभिन्न मानकर चले हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि छायावाद मूलतः रोमानी कविता है, और

दोनो की परिस्थितियो में भी जागरण और कुण्ठा का मिश्रण है। परन्तु फिर भी यह कैसे भूला जा सकता है कि छायावाद एक सर्वथा भिन्न देश और काल की सृष्टि है। जहाँ छायावाद के पीछे असफल सत्याग्रह था वहाँ रोमांटिक यूरोप के पीछे फ्रान्स का सफल विद्रोह था जिसमें जनता की विजयिनी सत्ता ने समस्त जागृत देशों में एक नवीन आत्म-विश्वास की लहर दौड़ा दी थी। फलस्वरूप वहाँ के रोमानी काव्य का आधार अपेक्षाकृत अधिक निश्चित और ठोस था, उसकी दुनिया अधिक मूर्त थी, उसकी आशा और स्वप्न अधिक निश्चित और स्पष्ट थे, उसकी अनुभूति अधिक तीक्ष्ण थी। छायावाद की अपेक्षा वह निश्चय ही कम अन्तर्मुखी एव वायवी था।

तीसरे भ्रम को जन्म दिया है आचार्य शुक्ल ने, जो छायावाद को शैली का एक तत्व मात्र मानते थे। उनका मत है कि विदेश के अभि-व्यञ्जनावाद, प्रतीकवाद आदि की भाँति छायावाद शैली का एक प्रकार-मात्र है।

इस भ्रम का कारण है शुक्लजी की वस्तु-सीमित दृष्टि, जो वस्तु और अभिव्यञ्जना में निश्चित अन्तर मानकर चलती थी। वास्तव में उन दो-चार इने-गिने सम्प्रदायों को छोड़कर, जो जान-बूझकर शैलीगत प्रयोगों को लेकर चले हैं, कोई भी काव्यधारा केवल अभिव्यञ्जना का प्रकार नहीं हो सकती। जिन अभिव्यञ्जनावाद और प्रतीकवाद का उन्होने उल्लेख किया है वे भी शुद्ध टेकनीक के प्रयोग नहीं हैं: उनके पीछे भी एक विशिष्ट अनुकूल भावधारा और विचारधारा है। प्रत्येक सच्ची काव्यधारा के लिए अनुभूति की अन्तप्रेरणा अनिवार्य है और जहाँ अनुभूति की अन्तप्रेरणा है वहाँ काव्य टेकनीक-मात्र का प्रयोग कैसे हो सकता है? छायावाद निश्चित ही शुद्ध कविता है। उसके पीछे अनुभूति की अन्तप्ररणा असदिग्ध है। उसकी अभिव्यक्ति की विशेषता भाव-पद्धति की विशिष्टता के कारण ही है।

निष्कर्ष—निष्कर्ष यह है कि छायावाद एक विशेष प्रकार की

भावपद्धति है : जीवन के प्रति एक विशेष भावात्मक दृष्टिकोण है।

जिस प्रकार भक्ति-काव्य जीवन के प्रति एक प्रकार का भावात्मक दृष्टिकोण था और रीति-काव्य एक दूसरे प्रकार का, उसी प्रकार छाया-वाद भी एक विशेष प्रकार का भावात्मक दृष्टिकोण है।

इस दृष्टिकोण का आधेय नव-जीवन के स्वप्नो और कुण्ठाओ के सम्मिश्रण से बना है, रूप-विधान अन्तर्मुखी तथा वायवी है और अभिव्यक्ति है प्रायः प्रकृति के प्रतीको द्वारा। विचार-पद्धति उसकी तत्वत. सर्वात्मवाद मानी जा सकती है पर वहाँ से इसे सीधी प्रेरणा नहीं मिली।

यह तो स्पष्ट ही है कि छायावाद का काव्य प्रथम श्रेणी का विश्व-काव्य नहीं है—कुण्ठा की प्रेरणा प्रथम श्रेणी के काव्य को जन्म नहीं दे सकती।

प्रथम श्रेणी के काव्य की सृष्टि तो पारदर्शी कवि के द्वारा ही सम्भव है, जिसके लिए यह जीवन और जगत् अनुभूति हो और जो सत्य को प्राप्त कर चुका हो। परन्तु यह सौभाग्य ससार में कितनो को प्राप्त है ? इसके अतिरिक्त, संसार का अधिकांश काव्य कुण्ठा-जात ही तो है। उसकी तीव्रता, इसके वैभव-विलास का जन्म प्रायः कुण्ठा से ही तो होता है।

इस सीमा को स्वीकार कर लेने के उपरान्त छायावाद को अधिक-से-अधिक गौरव दिया जा सकता है। और सच ही, जिस कविता ने एक नवीन सौन्दर्य-चेतना जगाकर एक बृहत् समाज की अभिरुचि का परि-ष्कार किया; जिसने उसकी वस्तु-मात्र पर अटक जाने वाली दृष्टि पर धार रखकर उसको इतना नुकीला बना दिया कि हृदय के गहनतम गह्वरों में प्रवेश कर सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और तरल-से-तरल भाव-वीचियो को पकड़ सके, जिसने जीवन की कुण्ठाओं को अनन्त रङ्ग वाले स्वप्नों में गुदगुदा दिया; जिसने भाषा को नवीन हाव-भाव, नवीन अश्रु-हास और नवीन विभ्रम-कटाक्ष प्रदान किये; जिसने हमारी कला को असंख्य अनमोल

छाया-चित्रों से जगमग कर दिया और अन्त में जिसने कामायनी का समृद्ध रूपक, पल्लव और युगान्त की कला, नीरजा के अश्रु-गीले गीत, परिमल और अनामिका की अम्बर-चुम्बी उड़ान दी—उस कविता क गौरव अक्षय है। उसकी समृद्धि की समता हिन्दी का केवल भक्ति-काव्य ही कर सकता है।

स्मृति-संकेत

१—प्रथम महायुद्ध के पश्चात् यूरोपियन जीवन के निस्सार हो जाने पर भी भारत में राजनैतिक चेतनाओं का उन्मेष हो रहा था। सामाजिक और राजनैतिक जड़ता के विरुद्ध व्याप्त असन्तोष की भावना वहिर्मुखी अभिव्यक्ति न पा सकी।

२—उक्त वातावरण में अन्तर्लीन चेतना के आशा और निराशा के उज्ज्वल धूमिल वर्णों से चित्रित स्वप्नचित्रों का काव्य में जो प्रतिफल हुआ, वही छायावाद है।

३—स्थूल वास्तव को सूक्ष्म अतीन्द्रिय या वायवीय रूप प्रदान करने की वृत्ति ही छायावाद की प्रेरिका मूलवृत्ति है।

४—छायावादी काव्य की तीन प्रमुख विशेषताएं हैं—१ व्यक्तिवाद, २ शृङ्गारिका, ३ प्रकृति पर चेतना का आरोप।

५—छायावादी काव्य में व्यक्तिवाद भी—१ प्रकृति को वैयक्तिक रग में रगी देखना २ समष्टि से विमुख हो व्यष्टि में ही रमा रहना। इन दो रूपो में मिलता है।

६—प्रकृति पर नारी भाव का आरोप और नारी के आन्तरिक सौंदर्य-प्रधान, अमासल भावात्मक चित्रण शृङ्गारिकता भी इन दो रूपो में व्यक्त हुई।

७—छायावादी काव्य में प्रकृति भी दो प्रकार से गृहीत हुई हैं—१ कवि कोलाहल पूर्ण ससार से पलायन कर प्रकृति की गोद में

जा छिपा है। २. ससार में पूर्ण न होने वाली अभिलाषाओ को प्रकृति के रूप-सौन्दर्य और स्वच्छन्दता में प्राप्त करता है।

८—छायावाद के सम्बन्ध में कुछ भ्रान्तियाँ हैं, जैसे कि.—

(क) छायावाद को सर्वात्मवाद मानना, क्योकि इसका प्रारम्भ सर्वात्मवाद के रूप में न होकर यौवन के अवचेतनवासना का क्रम विकास है। भले ही वाद में इसमें सर्वात्मवाद भी प्रतिष्ठित हो गया हो।

(ख) छायावाद को रोमाण्टिक काव्य से अभिन्न कहा गया है यद्यपि वह जागरण और कुण्ठा की प्रेरणा के कारण रोमाण्टिक काव्य से अभिन्न होते हुए भी भिन्न है।

(ग) छायावाद को एक शैली मात्र कहा गया है, यह भी ठीक नही।

९—छायावाद जीवन के प्रति एक विशेष भावात्मक दृष्टिकोण है।

१०—छायावाद ने 'कामायनी' जैसा समृद्ध रूपक, 'पल्लव की कला', 'नीरजा के अश्रुसिक्त गीत' और 'परिमल' की अम्वरचुम्वी उडान दी है।

कला में जीवन की अभिव्यक्ति



—शान्तिप्रिय द्विवेदी

[१]

समाज की तरह साहित्य में भी लोकोक्तियाँ बनती जा रही हैं, जिनमें से यह उक्ति प्राय सुनाई पड़ती है—'कला, कला के लिए।'—इस उक्ति के आधार पर हमारे यहाँ यह धारणा कुछ-कुछ फैल चली है कि दिन-रात के इस हँसते-रोते विश्व से पृथक् कला कोई भिन्न वस्तु है, जिसका अस्तित्व केवल लिखने-पढ़ने के ससार तक ही सीमित है, प्रत्यक्ष जीवन की एकतारता के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं। और इसीलिए, साहित्य के जड़वत् मूकपृष्ठों पर चाहे जो लिख दिया जाय, उस लिखित अश को हिला-डुलाकर जीवन उससे यह प्रश्न नहीं कर सकता कि, तुम्हारा हमारे अभ्युदय से क्या सम्बन्ध है, तुम मेरे उपवन में फल लगा रहे हो या बबूल ? आग बरसा रहे हो या बरसात की झड़ी ? तुम विध्वसक हो या स्रष्टा ?

'कला, कला के लिए' का कोई भ्रान्त लेखक कदाचित् कहेगा—जीवन को कला से यह प्रश्न करने का अधिकार नहीं। वह तो केवल 'कला' है, जीवन का सगोत्रीय नहीं कि उसके कृत्यों के लिए पञ्चायत की जाय अथवा उसके कारनामों का लेखा-जोखा लिया जाय। तब क्या कला जीवन से जाति-बहिष्कृत है ? परन्तु बात तो ऐसी नहीं जान पड़ती। जिस प्रकार जीवन मानव-शरीर धारण कर समाज के सम्मुख उपस्थित होता है, उसी प्रकार कला, ग्रन्थ का शरीर धारण कर जीवन के सम्मुख

उपस्थित होती है। किसी भी कलात्मक ग्रन्थ को शीशेदार आलमारी में वन्द कर या टेवुल पर रखकर हम नुमाइशी वस्तुओ की तरह केवल देखते भर नहीं, केवल उसकी छपाई-सफाई या जिल्दसाजी को देखकर आँखो की हविस भर ही नहीं मिटाते; बल्कि, उसे हम पढ़ते हैं, मस्तिष्क से सोचते हैं और हृदय से हृदयङ्गम करते हैं। इस प्रकार जब किसी ग्रन्थ का सम्वन्ध हमारे आँख, कान, मन और वाणी से जुड़ जाता है, तब उसकी कला भला हमारे जीवन से पृथक कैसे हो सकती है। थोड़ी देर के लिए यदि हम उसकी कला को नुमाइशी वस्तु के रूप में ही श्लाघ्य समझ लें तो भी उसकी नुमाइश में, उसके प्रदर्शन में, जो एक रस मिलता है, वह क्योकर? यदि एक शव के सम्मुख—जिसकी सम्पूर्ण इन्द्रियां अपने स्थान पर यथावत् साकार हैं—किसी कलात्मक ग्रन्थ को उपस्थित कर दें, तब उसे क्या उस रस की उपलब्धि होगी? नहीं, क्योंकि वह चेतना जो अनुभूतिशील है, वहां है कहां! चेतना के कारण ही तो जीवन, जीवन वना हुआ है और जीवन के कारण ही कला रसमय और सहृदय-संवेद्य वनी हुई है। तब, कला जीवन से विच्छिन्न कैसे हो सकती है? यो निष्प्रभ शरीर से जिस प्रकार चेतना लुप्त हो जाती है, उसी प्रकार कला नीरस और निष्प्राण होकर भले ही जीवन से पृथक् हो जाय।

[२]

तो क्या 'कला, कला के लिए' का कथन निरर्थक है? ऐसा तो नहीं प्रतीत होता। यह कथन तो अपने भीतर एक निगूढ पहेली छिपाये हुए है। पहेली की तह तक न पहुँच सकने के कारण ही कला के सम्वन्ध में ग़लत-फ़हमियां फैल रही हैं। और वह बेचारी अवलाओ की तरह ही दुष्ट दृष्टियो द्वारा कदर्थित हो रही है।

'कला, कला के लिए' की आवाज़ उस समय उठनी चाहिए जब समाज की तरह साहित्य भी रूढ़ि-ग्रस्त होकर विकास-हीन और प्रभाव-रहित हो जाय। देश-काल के अनुसार नियोजित किसी विशेष विधान

को ही जब समाज सब कुछ मानकर लकीर का फ़क़ीर हो जाता है, तब उसकी प्रगति ही अवरुद्ध नहीं हो जाती, बल्कि उसका अस्तित्व भी ख़तरे में पड जाता है। यही हाल साहित्य का भी है। ऐसी स्थिति में जिस प्रकार समाज के रङ्गमच पर युग-प्रवर्त्तक महाप्राण पुरुष खड़े होकर नूतन पथ-प्रदर्शन करते हैं, उसी प्रकार साहित्य की रङ्गभूमि पर आकर हमारे अमर कलाकार कला को भी नूतन गति-विधि दे जाते हैं। साहित्य के भीतर से जीवन को किस प्रकार जगाना चाहिए, इसके लिए वे मानवीय मनोविज्ञान के अनुसार कला के नूतन नियमो और नूतन रूप-रङ्ग की सृष्टि करते हैं, और उनके द्वारा जीवन की उस चिरन्तन चेतना को जागृत करते हैं, जो शरीर (बाह्य रूप-रङ्ग) के परिवर्त्तनशील आवरण में आत्मा की भाँति अक्षर है।

ऊपर निर्देश कर चुके हैं कि मानवीय मनोविज्ञान के अनुसार ही युग-प्रवर्त्तक कलाकार समय-समय पर कला को नूतन रूप-रग प्रदान करते हैं। समय के प्रवाह के साथ ज्यों-ज्यों मनुष्य की सरलता नष्ट होती जाती है, ज्यों-ज्यो उसमें विषमताएँ बढ़ती जाती हैं, त्यों-त्यों उसका मनोविज्ञान भी जटिल होता जाता है। इस जटिलता के कारण ही कला को मनुष्य के सम्मुख नाना प्रकार से उपस्थित करना पडता है। किसी सीधे-सादे युग में मनुष्य से सिर्फ यही कह देना पर्याप्त रहा होगा कि सच बोलो और मनुष्य ने सच को अपना लिया। परन्तु मनुष्य सत्यवादी होकर अप्रियवादी भी हो गया, तब उससे कहना पडा—'अप्रिय सत्य मत बोलो।' मनुष्य ने इस पाठ को भी ग्रहण कर लिया। परन्तु किसी युग का, शिशु की तरह सुबोध आज्ञाकारी मानव-समुदाय चिर-सहज नहीं रह सका, उसमें जीवन की वक्रता भी आ गई। तब साहित्यकारो को उससे वेदान्त के सूत्र रूप में ही नहीं, बल्कि विशद कथा-रूप में भी आत्मीयता जोडने की आवश्यकता जान पडी। परन्तु मनुष्य की चेतना कानों में ही नहीं, आँखो में भी समाई हुई है। अतएव मनुष्य सदैव से जो सुनता आया है, उसका आँखों द्वारा भी समाधान चाहने लगा। उसकी इस इच्छा की पूर्ति नाटको

द्वारा हुई। इस प्रकार वाणी ने समाज के भीतर साहित्य द्वारा क्रमशः विविध रूप में प्रवेश किया। आज काव्य, कथा, उपन्यास, नाटक, इत्यादि विविध उपहारो को लेकर साहित्य मानव-समाज के साथ अपनापन बढ़ा रहा है। यदि कोई आज यह कहे कि "तुम आप्त सूत्रो में ही बातचीत करो, वाणी का इतना विस्तार करने की आवश्यकता नहीं," तो जिस प्रकार यह आवेश निरर्थक हो सकता है, उसी प्रकार यह परामर्श भी अनावश्यक होगा कि किसी समय में साहित्य के लिए जो अमुक-अमुक नियम थे, आज उन्हीं नियमो पर चलो। अथवा कोई छायावाद की कविताओ के लिए ब्रजभाषा के कवित्त-सवैयो या पुराने लक्षण-ग्रन्थो का नियम लागू करे और कहे कि इसके बिना कविता हो ही नहीं सकती, जिस प्रकार यह बात हास्यास्पद हो सकती है, उसी प्रकार किसी युग-विशेष के कला-सम्बन्धी नियमों को ही अपनाकर साहित्य की सृष्टि करने का आदेश देना भी निरर्थक हो सकता है। कल के पूर्व-परिचित विधान जिस युग के साहित्य में प्रचलित हुए थे, उस युग के मनोविज्ञान के अनुसार वे यथेष्ट थे, किन्तु आज के विधान आज के मनोविज्ञान के अनुसार प्रभावशाली होने चाहिए। इस प्रकार 'कला, कला के लिए' का समझदार लेखक कह सकता है कि कला स्वावलम्बिनी है, किसी युग-विशेष की रूढ़ियो का शासन कला पर जबरन लागू किया जायगा तो स्वतन्त्रचेता कलाकार को कहना ही पडेगा—कला, कला के लिए है, रूढियों के लिए नहीं। कला अपनी स्वतन्त्रता को बनाये रखकर ही अपना विकास कर सकती है। उसमें नित्य नूतन कुशलता का माद्दा है, इसीलिए वह 'कला' है, चाहे वह ललित कला हो (जिससे हमें मानसिक रस मिलता है), चाहे वह उपयोगी कला हो (जिससे हमें व्यावहारिक लाभ होता है)। इस प्रकार कला का प्रत्येक रूप में जीवन से सम्बद्ध है।

[३]

कला लक्ष्य नहीं, लक्षणा है; साध्य नहीं, साधन है; अभिप्रेत नहीं, अभिव्यक्ति है। लक्ष्य या अभिप्रेत तो जीवन है, जिसे मानव-समाज

अनेक प्रकार से पाने का प्रयत्न करता है। साहित्य भी उसमें से एक 'प्रकार' है। यह प्रकार अपकारपूर्ण भी हो सकता है, अतएव इसे मगल और मनोरम बनाने के लिए ही कला को साधन बनाना पड़ा। साहित्य में कला का अर्थ है—मनोहरा। जीवन में जो कुछ सत्य है, शिव है, कला उसे ही 'सुन्दर' (मनोहर) बनाकर साहित्य द्वारा ससार के सम्मुख उपस्थित करती है। कला साहित्य का वाह्यरूप है, जीवन उसका अन्तः-स्वरूप। *कला अभिव्यक्ति है; जीवन अभिव्यक्त*। सुन्दर शरीर जिस प्रकार अन्तश्चेतन का नयनाभिराम प्रकाशन करता है उसी प्रकार कला साहित्य की जीवनमयी अन्तरात्मा की मनोरम अभिव्यक्ति करती है। परन्तु 'विष-रस-भरा कनक-घट जैसे' के अनुसार, जिस प्रकार सुन्दर शरीर में विषाक्त हृदय का होना सम्भव है, उसी प्रकार मनोहर कला द्वारा जीवन का दूषित किंवा विकृत रस भी उपस्थित हो जाना साहित्य में असम्भव नहीं है और प्राय. इसी कोटि के कलाकार अपने बचाव के लिए कह उठते हैं—'कला, कला के लिए'। अर्थात् कला ने यदि अपने कलित रूप को व्यक्त कर दिया है तो उसका अस्तित्व सार्थक है, उसे उसी के लिए देखना चाहिए। यह विचार ठीक ऐसा ही जान पड़ता है, जैसे यह कहा जाय—'सुन्दरता, सुन्दरता के लिए'। निःसन्देह सुन्दरता, सुन्दरता का आदर्श हो सकती है, किन्तु वह सुन्दरता, वह कला, शोभाशालिनी 'विष-कन्या' की भाँति प्राण-घातक भी हो सकती है। ऐसी कला साहित्य के लिए एक अभिशाप है। अतएव कला की सार्थकता केवल 'सुन्दरता' में नहीं है, वल्कि उसके मगलप्राण होने में है।

निदान, हम तो 'कला कला के लिए' का सकेत इसी अभिप्राय में ग्रहण कर सकते हैं कि कला रूढ़ि-रहित हो, उसे नाना परिवर्तनों द्वारा कल्याणमयी चेतना को व्यक्त करने की स्वतन्त्रता हो। यह स्वतन्त्रता कला के लिए ही नहीं, जीवन के लिए भी वाञ्छित है। किन्तु स्वतन्त्रता स्वतन्त्रता ही रहे, वह स्वेच्छचारिता न वन जाय। स्वेच्छाचारिता भी उतनी ही अशोभन है, जितनी कि परतन्त्रता।

जब हम स्वतन्त्रता-पूर्वक जीवन को गतिशील करते हैं, तब मनुष्यता के धरातल पर 'जीवन' एक सरिता के रूप में प्रवाहित होता हुआ दीख पड़ता है। सरिता का जीवन स्वतन्त्र है, इसीलिए वह प्रगतिशील है। यदि उसे हम परतन्त्र कर दें तो वह 'जीवन' एक सरोवर के रूप में सङ्कीर्ण और दूषित हो जायगा। यदि इस परतन्त्रता की प्रतिक्रिया मे जीवन स्वेच्छाचारिता के लिए उद्बुद्ध हो जाय तो? 'चूल्हे से निकले तो कड़ाही में गिरे' वाली बात हो जायगी। स्वेच्छाचारिता से जीवन की नदी में 'बाढ़' आ सकती है, जिससे अपना जीवन तो पङ्किल हो ही जायगा, साथ ही समाज भी तबाह हो जायगा। यह ठीक है, कि बाढ भी 'जीवन' का एक रूप है, किन्तु क्षणिक रूप। बाढ़-द्वारा यदि नदी समुद्र बन जाना चाहे तो वह जीवन का माधुर्य खो देगी—

'बह जाता बहने का सुख,
लहरो का कलरव, नर्त्तन।
बढने की अति-इच्छा में,
जाता जीवन से जीवन।'

अपने-अपने व्यक्तित्व के अनुसार प्रत्येक की एक मर्यादा है, समुद्र भी अपनी मर्यादा नहीं छोड़ता। जीवन का शाश्वत रूप बढ़ी हुई नदी में नहीं, बल्कि स्वाभाविक गति से बहती हुई सरिता में है। सरिता स्वतन्त्र है, वह किसी बन्धन से बाँधी नहीं जा सकती। परन्तु जो स्वतन्त्रता को अपनाता है, वह दूसरो के बलात् बन्धन से तो नहीं बँधता, परन्तु आत्ममर्यादा के लिए वह स्वयं ही प्रसन्नतापूर्वक एक मुक्त-बन्धन मनोनीत कर लेता है। सरिता का सीमित जीवन अपने दोनों तटों में निर्बन्ध है, परन्तु उसकी वही सीमित-निर्बन्धता उसका 'मुक्त-बन्धन' भी है। इसीलिए सरिता की कवि-आत्मा कह सकती है—

'वन्दिनी बनकर हुई मैं
बन्धनो की स्वामिनी-सी।

जीवन की तरह कला में भी इसी प्रकार मर्यादा का आत्म-स्वीकृत बन्धन होना चाहिए, तभी वह स्वतन्त्र जीवन की स्वतन्त्र कला हो सकती है।

सरिता का आत्ममर्यादाशील जीवन ही हमारा परिपूर्ण आदर्श है—

'आत्मा है सरिता के भी,
जिससे सरिता है सरिता,
जल-जल है, लहर-लहर रे,
गति-गति, सृति-सृति चिरभरिता।'

उस आत्मामयी सरिता में सजलता भी है, ऋजु-कुञ्चित पथों की वक्रता भी है—इसीलिए उसमें गति है; उसमें निर्मलता भी है और लहरों की रसिकता भी। परन्तु सब कुछ मर्य्यादित है। कथा-साहित्य में कला-द्वारा जीवन की ऐसी ही लौकिक अभिव्यक्ति चाहिए। जीवन की यह अभिव्यक्ति क्या 'यथार्थ' नहीं है ?

[५]

साहित्य में यथार्थवाद के नाम पर अन्धेर हुआ है। क्या लज्जा-रहित वास्तविकता को ही यथार्थता कह सकते हैं ? तब ऐसी वास्तविकता में कला की क्या ख़ूबी है ? कला तो वास्तविकता को सँभालती-सँवारती है, इसीलिए वह कला है। कला का अस्तित्व ही आदर्श का, मगल का सूचक है।

भगवान् ने अपने अनेक अवतारों में से एक अवतार कलाकार का भी लिया था। मानव-जीवन के सबसे बड़े कलाकार कृष्ण हैं। वे 'नटवर' हैं, 'मुरलीधर' हैं, उनके स्वरूप में कला मूर्तिमान् है। उस कलाकार का कौशल तो देखिए। भरी सभा में जब दुर्योधन, कला की पाञ्चाली को विवस्त्र कर देना चाहता है, तब न जाने किस अज्ञात कक्ष से कलाकार कृष्ण पाञ्चाली के लिए अञ्चल-पर-अञ्चल बढ़ाकर अनन्तदुकूला वसुन्धरा की भाँति उसे शोभान्वित कर देता है।

सुन्दरता यदि कला है, परिच्छद है, तो यथार्थ उसका शरीर है और

आदर्श उसकी मंगल आत्मा। शरीर अपनी स्थूल यथार्थता के कारण प्रस्तुत नहीं है, वह महान् है अपनी आत्मा के कारण। इस दृष्टि से यदि हम देख सकें तो विशाल शरीरवाले कितने ही नर-पशुओं की अपेक्षा सूक्ष्मकलेवरा चींटी में अधिक मंगलचेतना मिल सकती है।

जब सूक्ष्मतम ज्योतिर्मयी आत्मा शरीर का इतना बड़ा आवरण अपनाये हुए है, (उसे भी नग्न रूप में उपस्थित होने में लज्जा मालूम पड़ती है) तब उस शरीर (यथार्थ) की भी मर्य्यादा का ध्यान रखना ही पड़ेगा। वह राजमहिषी जिस पालकी (शरीर) में प्रवास कर रही है, वह पालकी भी अनावृत कैसे रह जाय ! आत्मा सम्मान की वस्तु रहे, वह कौतुक या तमाशे की चीज़ न बने ; वह अधिकारी द्वारा समझने और मनन की वस्तु हो, इसीलिए वह आवरण-पर-आवरण ग्रहण करती है।

जिस प्रकार शरीर आत्मा का माध्यम है, उसी प्रकार, यथार्थ आदर्श का माध्यम। यथार्थ—आदर्श को किस प्रकार समाज के सामने उपस्थित करे, इसे उचित रूप से हृदयङ्गम करने में ही कलाकार की विशेषता है। घोर-से-घोर कलुषित व्यक्ति भी जब अपना फोटो खिचवाने जाता है, तब वह अपने को इस 'पोज़' में साकार करना चाहता है कि वह लोक-दृष्टि को सुदर्शन जान पड़े। फिर साहित्य के चित्रों में विकृति की लालसा क्यों ? साहित्य में व्यक्ति और समाज के चित्रों को उपस्थित करते समय कलाकार को फोटोग्राफर से अधिक कला-कुशलता दिखानी पड़ती है। यथार्थ को वह इस 'तर्ज़' से उपस्थित करता है कि वास्तविकता तो प्रकट हो ही जाती है, साथ ही जो अलक्ष्य (आदर्श) है, वह भी लक्ष्य में आ जाता है। किसी फोटो में चिपटी नाक को देखकर, बिना फोटोग्राफर के कहे भी स्वयमेव शुक-नासिका का आदर्श सामने आ जाता है। यथार्थ—मनोवैज्ञानिक निरीक्षकों के लिए एक सांकेतिक आधार है। यथार्थ की अभिव्यक्ति का अच्छा 'तर्ज़' कला का आदर्श है, जीवन की अभिव्यक्ति का अच्छा ढङ्ग यथार्थ का आदर्श।

[६]

कलाकार सब जगह बोलता नहीं, तो भी, उसके चित्रण की प्रत्यक्ष वास्तविकता से अप्रत्यक्ष वास्तविकता (अभीप्सित आदर्श) का बोध हो जाता है। आधुनिकतम कलाकार स्वयं नहीं बोलता, वह संकेत से ही अधिक काम लेता है। परन्तु जो लोग कथा-साहित्य को कला की दृष्टि से नहीं, बल्कि धर्म और नीति की दृष्टि से ग्रहण करना चाहते हैं, उनके लिए पौराणिक कहानियों में उपदेश-मूलक आदर्श भी हैं। समाज का यह धर्म-पीडित वर्ग ऐसा है, जो संकेत की भाषा नहीं समझ सकता। वह रूढ़िग्रस्त मूढ़ है। वह सुझाने से नहीं, बल्कि समझाने से ही समझता है। हमारे अमर कथाकार स्व० प्रेमचन्दजी ने इस वर्ग के पाठकों की साहित्यिक रुचि को उन्नत करने में बहुत हाथ बँटाया है; केवल नैतिकता के रूप में नहीं, बल्कि सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना के रूप में भी।

[७]

सर्वश्री रवीन्द्रनाथ, प्रेमचन्द और शरच्चन्द्र हमारे वे स्वनामधन्य कलाकार हैं, जिन्होंने आधुनिक विश्वसाहित्य में भारत का मस्तक ऊँचा किया है। प्रेमचन्द और शरच्चन्द्र आदर्शवादी कलाकार हैं। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर इनके बजाय एक भिन्न प्रकार के कलाकार हैं। उनकी सभी कथा-कृतियों को यथार्थवाद और आदर्शवाद के मापदंड से मापना अवाञ्छित प्रयत्न करना होगा। उनकी कला निःसन्देह कला के लिए भी है। वह व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के आदर्शों के लिए ही नहीं, अपितु केवल मानसिक रस-संचरण के लिए भी है। वह रस निर्विष है, इसीलिए 'विष-कन्या' के रूप-रस की तरह घातक नहीं, स्वास्थ्यदायक है। इस प्रकार की कृतियो में आदर्श तो नहीं ढूंढा जा सकता, किन्तु यथार्थ हो सकता है, यद्यपि यथार्थ के लिए ही लिखा जाना इनके लिए आवश्यक नहीं होता। उनका यथार्थ कवि का यथार्थ (भाव) है, जिसमें जीवन के ऊर्ध्ववातावरण का सत्य रहता है।

हाँ तो, प्रेमचन्द और शरच्चन्द्र आदर्शवादी कलाकार हैं। यद्यपि प्रेमचन्द जी अपनी आदर्श-वादिता के लिए विश्रुत हैं, शरच्चन्द्र अपनी यथार्थवादिता के लिए; परन्तु प्रेमचन्द अपनी सभी कृतियो में आदर्शवादी नहीं हैं, इसके विपरीत शरच्चन्द्र अपनी सभी कहानियो और उपन्यासों में एक-से आदर्शवादी हैं। प्रेमचन्द्र जी की अनेक कहानियो में तो हम 'कला कला के लिए' की ही बात पा सकते हैं। उनकी सर्वाङ्गसुन्दर कहानी 'शतरंज के खिलाड़ी' को ही लीजिए, इसमें किस आदर्श का उपदेश है? वह तो केवल एक मानसिक रस प्रदान करती है, जिससे हृदय तृप्त होता है। प्रेमचन्द जी मुख्यतः अपने उपन्यासों में ही आदर्शवादी हैं। इनके उपन्यासो में केवल सामयिक समाज और राष्ट्र का साहित्यिक इतिहास ही नहीं है, वलिक जिस प्रकार के पाठकों के लिए उन्होने अपने आदर्श उपस्थित किये हैं, उनके मानसिक विकास के अनुसार मानवीय मनस्तत्त्व हैं।

राष्ट्रीय कवि मैथिलीशरण गुप्त की भाँति प्रेमचन्द जी राष्ट्रीय उपन्यासकार हैं। राष्ट्रीय प्रश्नो के साथ समाज का जहाँ तक सम्वन्ध है, वहाँ तक उन्होंने समाज को अपनाया है। 'गोदान' इसका अपवाद हैं, जिसमें सामाजिक प्रश्न को सामाजिक रूप में ही दिखलाया है। प्रेमचन्द जी से भिन्न शरच्चन्द्र सर्वथा सामाजिक उपन्यासकार हैं, यद्यपि अपवाद-स्वरूप 'पथेर दाबी' में वे भी राष्ट्रीय कलाकार के रूप में प्रकट हुए। अपनी कहानियो और उपन्यासो में शरच्चन्द्र ने जिन सामाजिक प्रसङ्गों का निर्देश किया है, राष्ट्रीय प्रश्नो से उनका राजनीतिक लगाव नहीं। राष्ट्र के स्वतन्त्र या परतन्त्र किसी भी युग में वे प्रसङ्ग ज्यो-के-त्यो रहेंगे। राष्ट्रीय प्रश्नो का सम्वन्ध यदि शासको की राजनीति से है तो शरच्चन्द्र के सामाजिक प्रश्नों का सम्वन्ध व्यक्तियो की रीति-नीति और अनुभूति से। शरद वावू उसी रीति-नीति को सुलझाना चाहते हैं। इसके लिए सहृदयता और सहानुभूतिपूर्ण उनका एक विशेष दृष्टिकोण है। वह दृष्टिकोण उनकी छोटी-सी-छोटी कहानी से लेकर वड़े-से-वड़े उपन्यास

में प्रकट हुआ है। प्रेमचन्द का आदर्श व्यक्त है, शरच्चन्द्र का आदर्श अव्यक्त। प्रेमचन्द का आदर्श पञ्चनद की तरह उद्घोष करता है तो शरच्चन्द्र का आदर्श अन्त सलिल की तरह भीतर-ही-भीतर सूक्ष्म सवेदन को जागृत करता है। प्रेमचन्द जी के आदर्श में जनमत का व्यक्तित्व है, शरच्चन्द्र के आदर्श में प्रतिमतित्व।

[८]

✓ आदर्श को यदि हम सकुचित अर्थ में ग्रहण करेंगे, अथवा उसे जप-तप, पूजा-पाठ, जाति-धर्म तक ही केन्द्रित करेंगे, तो यह हमारी ही भूल होगी। प्रेम, सहानुभूति, करुणा, ममता—ये भी आदर्श के प्रतीक हैं ; ये किसी जाति, धर्म्म और देश तक ही सीमित नहीं। आदर्श तो मनुष्यता की तरह विस्तृत, आत्मा की तरह व्यापक है। देश-काल के विभेद से आदर्श नव-नव रूप धारण करता है। उस चिरनवागन्तुक पथिक के लिए यथार्थ 'गाइड' का काम करता है/। वह समाज की ऊँची-नीची गलियों से घुमाता हुआ आदर्श को उसके उज्ज्वल सिंहासन तक पहुँचा देता है। यथार्थ के बिना आदर्श गति-रहित है, आदर्श के बिना यथार्थ जीवन-रहित। आदर्श यदि राजपुरुष है तो यथार्थ उसका राजमन्त्री। यह राजमन्त्री ही राजपुरुष को मानवता के सरक्षण के लिए मन्त्रणा देता है। यथार्थ चाहे तो अपने राजा के साथ विश्वासघात कर सकता है। जब वह विश्वसघात करता है तभी जन-रव क्षुब्ध हो उठता है। यों वह अपने स्थान पर सार्थक है।

स्मृति-संकेत

१—'कला, कला के लिए' की उक्ति के आधार पर यह कहा जाने लगा है कि कला का जीवन से कोई सम्बन्ध नही।

२—जीवन को कला से यह पूछने का अधिकार नही कि वह जीवन के लिए उपयोगी है या अनुपयोगी।

३—फिर भी कला मुर्दो के लिए नही, जीवित व्यक्तियो के लिए है। अत जीवन को कला पर पूरा नियन्त्रण रखने का अधिकार है।

४—जव कला रूढिग्रस्त हो जाय, उस समय कला, कला के लिए का नारा उसे वन्धनो से उन्मुक्त कराने के लिए लगाया जाना चाहिए।

५—पर कला उन्मुक्त हो, अनर्गल नही। उसकी स्वच्छन्दता नदी के प्रवाह के समान मर्यादित होनी चाहिए। कला में यथार्थ के शरीर को आदर्श से अलंकृत रखना चाहिए।

६—प्रेमचन्द जी राष्ट्रीय उपन्यासकार हैं, वे आदर्शवादी हैं। शरच्चन्द्र यथार्थवादी है, फिर भी उनके यहाँ भी आदर्श है।

७—आदर्श से प्रयोजन मानवता के विकसित गुणो से है, किन्ही धार्मिक विधि-विधानो से नही।

काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था



—रामचन्द्र शुक्ल

तदेजति तन्नैजति—(ईशावास्योपनिषद्)

आत्मबोध और जगद्बोध के बीच ज्ञानियों ने गहरी खाई खोदी पर हृदय ने कभी उसकी परवाह न की; भावना दोनों को एक ही मानकर चलती रही। इस दृश्य जगत् के बीच जिस आनन्द-मगल की विभूति का साक्षात्कार होता रहा उसी के स्वरूप की नित्य और चरम भावना द्वारा भक्तों के हृदय में भगवान् के स्वरूप की प्रतिष्ठा हुई। लोक में इसी स्वरूप के प्रकाश को किसी ने 'रामराज्य' कहा, किसी ने 'आसमान की बादशाहत'। यद्यपि मूसाइयो और उनके अनुगामी ईसाइयों की धर्म-पुस्तक में आदम ख़ुदा की प्रतिमूर्ति बताया गया पर लोक के बीच नर में नारायण की दिव्य कला का सम्यक् दर्शन और उसके प्रति हृदय का पूर्ण निवेदन भारतीय भक्तिमार्ग में ही दिखाई पड़ा।

सत्, चित् और आनन्द—ब्रह्म के इन तीन स्वरूपों में से काव्य और भक्तिमार्ग 'आनन्द' स्वरूप को लेकर चले। विचार करने पर लोक में इस आनन्द की अभिव्यक्ति की दो अवस्थाएँ पाई जायँगी—साधनावस्था और सिद्धावस्था। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में ब्रह्म के 'आनन्द' स्वरूप का सतत आभास नहीं रहता, उसका आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। इस जगत् में न तो सदा और सर्वत्र लहलहाता वसन्त-विकास रहता है, न सुख समृद्धि-पूर्ण हास-विलास। शिशिर के आतक से सिमटी और झोंके झेलती वनस्थली की खिन्नता और हीनता के बीच से ही क्रमशः

आनन्द की अरुण आभा धुंघली-धुघली फूटती हुई अन्त में वसन्त की पूर्ण प्रफुल्लता और प्रचुरता के रूप में फैल जाती है; इसी प्रकार लोक की पीड़ा, वाधा, अन्याय, अत्याचार के बीच दबी हुई आनन्द-ज्योति भीषण शक्ति में परिणत होकर अपना मार्ग निकालती है और फिर लोकमंगल और लोकरंजक के रूप में अपना प्रकाश करती है।

कुछ कवि और भक्त तो जिस प्रकार आनन्द-मंगल के सिद्ध या आविर्भूत स्वरूप को लेकर सुख-सौन्दर्यमय माधुर्य, सुषमा, विभूति, उल्लास, प्रेम-व्यापार इत्यादि उपभोग-पक्ष की ओर आकर्षित होते हैं उसी प्रकार आनन्द-मंगल की साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को लेकर पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार आदि के दमन में तत्पर शक्ति के संचरण में भी— उत्साह, क्रोध, करुणा, भय, घृणा इत्यादि की गति-विधि में भी पूरी रमणीयता देखते हैं। वे जिस प्रकार प्रकाश को फैला हुआ देखकर मुग्ध होते हैं उसी प्रकार फैलने के पूर्व उसका अन्धकार को हटाना देखकर भी। ये ही पूर्णकवि हैं, क्योंकि जीवन की अनेक परिस्थितियो के भीतर ये सौन्दर्य का साक्षात्कार करते हैं। साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को ग्रहण करने वाले कुछ ऐसे कवि भी होते हैं जिनका मन सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष की ओर नहीं जाता, जैसे, भूषण। इसी प्रकार कुछ कवि या भावुक आनन्द के केवल सिद्ध स्वरूप या उपभोग-पक्ष में ही अपनी वृत्ति रमा सकते हैं। उनका मन सदा सुख-सौन्दर्यमय माधुर्य, दीप्ति, उल्लास, प्रेम-क्रीड़ा इत्यादि के प्राचुर्य ही की भावना में लगता है। इसी प्रकार की भावना या कल्पना उन्हें कला-क्षेत्र के भीतर समझ पड़ती है।

उपर्युक्त दृष्टि से हम काव्यों के दो विभाग कर सकते हैं—

(१) आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वाले।

(२) आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग पक्ष को लेकर चलने वाले।

डंटन (Theodore Watts Dunton) ने जिसे शक्ति काव्य

(Poetry as energy) कहा है वह हमारे प्रथम प्रकार के अन्तर्गत आ जाता है जिसमें लोक-प्रवृत्ति को परिचालित करने वाला प्रभाव होता है, जो पाठकों या श्रोताओं के हृदय में भावों की स्थायी प्रेरणा उत्पन्न कर सकता है। पर डंटन ने शक्ति-काव्य से भिन्न को जो कला-काव्य (Poetry as an art) कहा है वह कला का उद्देश्य केवल मनोरजन मानकर। वास्तव में कला की दृष्टि दोनों प्रकार के काव्यों में अपेक्षित है। साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वाले काव्यों में भी यदि कला में चूक हुई तो लोकगति को परिचालित करने वाला स्थायी प्रभाव न उत्पन्न हो सकेगा। यहीं तक नहीं, व्यजित भावों के साथ पाठकों की सहानुभूति या साधारणीकरण तक, जो रस की पूर्ण अनुभूति के लिए आवश्यक है, न हो सकेगा। यदि 'कला' का वही अर्थ लेना है जो काम-शास्त्र की चौंसठ कलाओं में है—अर्थात् मनोरजन या उपभोग-मात्र का विधायक—तो काव्य के सम्बन्ध में दूर ही से इस शब्द को नमस्कार करना चाहिए। काव्य समीक्षा में फ्रांसीसियों की प्रधानता के कारण इस शब्द को इसी अर्थ में ग्रहण करने से योरप में काव्य-दृष्टि इधर कितनी सकुचित हो गई इसका निरूपण हम किसी अन्य प्रबन्ध में करेंगे।

आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलनेवाले काव्यों के उदाहरण हैं—रामायण, महाभारत, रघुवश, शिशुपालवध, किराता-र्जुनीय। हिन्दी में रामचरित-मानस, पद्मावत (उत्तरार्द्ध), हम्मीररासो, पृथ्वीराजरासो, छत्रप्रकाश इत्यादि प्रबन्धकाव्य, भूषण आदि कवियों के वीररसात्मक मुक्तक तथा आल्हा आदि प्रचलित वीरगाथात्मक गीत। उर्दू के वीररसात्मक मरसिये। योरपीय भाषाओं में इलियड, ओडेसी, पैराडाइज लास्ट, रिवोल्ट आफ इसलाम इत्यादि प्रबन्धकाव्य तथा पुराने बैलड (Ballads)।

आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष को लेकर चलने वाले काव्यों के उदाहरण हैं—आर्य्यासप्तशती, गाथासप्तशती, अमरूशतक,

गीत-गोविन्द तथा शृङ्गाररस के फुटकल पद्य। हिन्दी में सूरसागर, कृष्ण-भक्त कवियो की पदावली, बिहारी-सतसई, रीतिकाल के कवियो के फुटकल शृङ्गारी पद्य, रास-पंचाध्यायी ऐसे वर्णनात्मक काव्य तथा आज-कल की अधिकांश छायावादी कविताएँ। फारसी उर्दू के शेर और ग़ज़ल। अंग्रेजी की लिरिक (Lyrics) कविताएँ तथा नई प्रकार की वर्णनात्मक कविताएँ।

आनन्द की साधनावस्था

लोक में फैली दुःख की छाया को हटाने में ब्रह्म की आनन्दकला जो शक्तिमय रूप धारण करती है उसकी भीषणता से भी अद्भुत मनोहरता, कटुता में भी अपूर्व मधुरता, प्रचण्डता में भी गहरी आर्द्रता साथ लगी रहती है। विरुद्धो का यही सामंजस्य कर्मक्षेत्र का सौन्दर्य है जिसकी ओर आकर्षित हुए विना मनुष्य का हृदय नहीं रह सकता है। इस सामंजस्य का और कई रूपो में भी दर्शन होता है। किसी कोट-पतलून-हैट वाले को धाराप्रवाह संस्कृत बोलते अथवा किसी पण्डित-वेशधारी सज्जन को अंग्रेजी की प्रगल्भ वक्तृता देते सुन व्यक्तित्व का जो एक चमत्कार-सा दिखाई पड़ता है उसकी तह में भी सामंजस्य का यही सौन्दर्य समझना चाहिए। भीषणता और सरलता, कोमलता और कठोरता, कटुता और मधुरता, प्रचण्डता और मृदुता का सामंजस्य ही लोकधर्म का सौन्दर्य है। आदि-कवि वाल्मीकि की वाणी इसी सौन्दर्य के उद्घाटन-महोत्सव का दिव्य संगीत है। सौन्दर्य का यह उद्घाटन असौन्दर्य का आवरण हटाकर होता है। धर्म और मंगल की यह ज्योति अधर्म और अमगल की घटा को फाड़ती हुई फूटती है। इससे कवि हमारे सामने असौन्दर्य, अमंगल, अत्याचार, क्लेश इत्यादि भी रखता है; रोष, हाहाकार और ध्वस का दृश्य भी लाता है। पर सारे भाव, सारे रूप और सारे व्यापार भीतर-भीतर आनन्द-कला के विकास में ही योग देते पाये जाते हैं। यदि किसी ओर उन्मुख ज्वलन्त रोष है तो उसके और सब ओर

करुण दृष्टि फैली दिखाई पडती है। यदि किसी ओर ध्वंस और हाहाकार है तो ओर सब ओर उसका सहगामी रक्षा और कल्याण है। व्यास ने भी अपने 'जयकाव्य' में अधर्म के पराभव और धर्म की जय का सौन्दर्य प्रत्यक्ष किया था।

वह व्यवस्था या वृत्ति, जिससे लोक में मगल का विधान होता है, 'अभ्युदय' की सिद्धि होती है, धर्म है। अत अधर्म-वृत्ति को हटाने में धर्म-वृत्ति की तत्परता—चाहे वह उग्र और प्रचण्ड, हो चाहे कोमल और मधुर—भगवान् की आनन्द-कला के विकास की ओर बढती हुई गति है। यह गति यदि सफल हुई तो 'धर्म की जय' कहलाती है। इस गति में भी सुन्दरता है और इसकी सफलता में भी। यह बात नहीं है कि जब यह गति सफल होती है तभी इसमें सुन्दरता आती है। गति में सुन्दरता रहती ही है, आगे चलकर चाहे यह सफल हो, चाहे विफल। विफलता में भी एक निराला ही विषण्ण सौन्दर्य होता है। तात्पर्य यह कि यह गति आदि से अन्त तक सुन्दर होती है—अन्त चाहे सफलता के रूप में हो चाहे विफलता के। उपर्युक्त दोनों आर्य कवियों ने पूर्णतया विचार से धर्म की गति का सौन्दर्य दिखाते हुए उसकी सफलता में पर्यवसान किया है। ऐसा उन्होंने उपदेशक की बुद्धि से नहीं किया है, धर्म की जय के बीच भगवान् की मूर्ति के साक्षात्कार पर मुग्ध होकर किया है। यदि राम द्वारा रावण का वध तथा कृष्ण के साहाय्य द्वारा जरासन्ध और कौरवों का दमन न हो सकता तो भी रामकृष्ण की गति-विधि में पूरा सौन्दर्य रहता, पर उनमें भगवान् की पूर्ण कला का दर्शन न होता क्योंकि भगवान् की शक्ति अमोघ है।

आनन्द-कला के प्रकाश की ओर बढ़ती हुई गति की विफलता में भी सौन्दर्य का दर्शन करने वाले अनेक कवि हुए हैं। अग्रेज कवि शेली ससार में फैले पाखण्ड, अन्याय और अत्याचार के दमन तथा मनुष्य-मनुष्य के बीच सीधे सरल प्रेमभाव के सार्वभौम ससार का स्वप्न देखने वाले कवि थे। उनके 'इसलाम का विप्लव' (The Revolt of

Islam) नामक द्वादश सर्ग-बद्ध महाकाव्य में मनुष्य-जाति के उद्धार में रत नायक और नायिका (Laon and Cythna) में मगल-शक्ति के अपूर्व सचय की छटा दिखाकर तथा उनके द्वारा एक पार दुर्दान्त अत्याचार के पराभव के मनोरम आभास से अनुरंजित करके अन्त में उस शक्ति की विफलता की विषादमयी छाया से लोक को फिर आवृत दिखाकर छोड़ दिया है।

जैसा ऊपर कह आये हैं, मंगल-अमगल के द्वन्द्व में कवि लोग अन्त में मंगल-शक्ति की जो सफलता दिखा दिया करते हैं उसमें सदा शिक्षा-वाद (dibacticism) या अस्वाभाविकता की गन्ध समझकर नाक-भौं सिकोड़ना ठीक नहीं। अस्वाभाविकता तभी आयेगी जब बीच का विधान ठीक न होगा अर्थात् जब प्रत्येक अवसर पर सत्पात्र सफल और दुष्ट पात्र विफल या ध्वस्त दिखाये जायंगे। पर सच्चे कवि ऐसा कभी नहीं करते। इस जगत् में अधर्म प्राय. दुर्दमनीय शक्ति प्राप्त करता है जिसके सामने धर्म की शक्ति बार-बार उठकर व्यर्थ होती रहती है। कवि जहाँ मंगल-शक्ति की सफलता दिखाता है वहाँ कला की दृष्टि से सौन्दर्य का प्रभाव डालने के लिए; धर्म-शासक की हैसियत से डराने के लिए नहीं कि यदि ऐसा कर्म करोगे तो ऐसा फल पाओगे। कवि कर्म-सौन्दर्य के प्रभाव द्वारा प्रवृत्ति या निवृत्ति अन्त.प्रकृति में उत्पन्न करता है, उसका उपदेश नहीं देता।

सौन्दर्य कर्म का कवि सौन्दर्य से प्रभावित रहता है और दूसरों को भी प्रभावित करना चाहता है। किसी रहस्यमयी प्रेरणा से उसकी कल्पना में कई प्रकार के सौन्दर्यों का जो मेल आप-से-आप हो जाया करता है उसे पाठक के सामने भी वह प्रायः रख देता है जिस पर कुछ लोग कह सकते हैं कि ऐसा मेल क्या ससार में बराबर देखा जाता है ? मंगल-शक्ति के अधिष्ठान राम और कृष्ण जैसे पराक्रमशाली और धीर हैं वैसा ही उनका रूप-माधुर्य और उसका शील भी लोकोत्तर है। लोक-हृदय आकृति और गुण, सौन्दर्य और सुशीलता, एक ही अधिष्ठान में

देखना चाहता है। इसी से 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति' सामुद्रिक की यह उक्ति लोकोक्ति के रूप में चल पड़ी। 'नैषध' में नल हंस से कहते हैं—

न तुला-विषये तवाकृतिर्न वचो वर्त्मनि ते सुशीलता।
त्वदुदाहरणाऽऽकृतौ गुणा इति सामुद्रिक-सार-मुद्रणा॥

भीतरी और बाहरी सौन्दर्य रूप-सौन्दर्य और कर्म-सौन्दर्य के मेल की यह आदत धीरोदात्त आदि भेद-निरूपण से बहुत पुरानी है और बिलकुल छूट भी नहीं सकती। यह हृदय की एक भीतरी वासना की तुष्टि के हेतु कला की रहस्यमयी प्रेरणा है। १९वीं शताब्दी के कवि शैली जो राजशासन, धर्मशासन, समाज-शासन आदि सब प्रकार की शासन-व्यवस्था के घोर विरोधी थे—इस प्रेरणा से पीछा न छुड़ा सके। उन्होंने भी अपने प्रबन्ध-काव्यों में रूप-सौन्दर्य और कर्म-सौन्दर्य का ऐसा ही मेल किया है। उनके नायक (या नायिका) जिस प्रकार पीड़ा, अत्याचार आदि से मनुष्य-जाति का उद्धार करने के लिए अपना प्राण तक उत्सर्ग करने वाले घोर-से-घोर कष्ट और यन्त्रणा से मुँह न मोड़ने वाले, पराक्रमी, दयालु और धीर हैं उसी प्रकार रूप-माधुर्य सम्पन्न भी।*

---

*Certain it is that with Shelley goodness is ever near to sensuous beauty and passes easily into passion. Hence his choice of heroic type rether than simple ones. of Laon and Cythua and Prometheus rather than Michale Mathew, etc. Laon and Cythna possess youth, strength and beauty no less than courage and the instinct for self-sacrifice and their passion for freedom. A further admirable instance of this harmony of goodness and beauty is seen in the description of Lady Beneffiicient who tended the garden of 'The Sensitive Plant.'

—'Studies in Shelley' by A. T. Strong.

आज भी किसी कवि से राम की शारीरिक सुन्दरता कुम्भकर्ण को और कुम्भकर्ण की कुरूपता राम को न देते बनेगी। माइकेल मधुसूदन दत्त ने मेघनाद को अपने काव्य के रूप-गुण-सम्पन्न नायक बनाया, पर लक्ष्मण को वे कुरूप न कर सके। उन्होंने जो उलट-फेर किया वह कला या काव्यानुभूति की किसी प्रकार की प्रेरणा से नहीं, बल्कि एक पुरानी धारणा तोड़ने की बहादुरी दिखाने के लिए, जिसका शौक किसी विदेशी नई शिक्षा के पहले-पहल प्रचलित होने पर प्रायः सब देशों में कुछ दिन रहा करता है। इसी प्रकार बंगभाषा के एक दूसरे कवि नवीनचन्द्र ने अपने 'कुरुक्षेत्र' नामक काव्य में कृष्ण का आदर्श ही बदल दिया है। उसमें वे ब्राह्मणों के अत्याचार से पीड़ित जनता के उद्धार के लिए उठ खड़े हुए एक क्षत्रिय महात्मा के रूप में अंकित किये गये हैं। अपने समय में उठी हुई किसी खास हवा को झोंक में प्राचीन आर्य-काव्यों के पूर्णतया निर्दिष्ट स्वरूप वाले आदर्श पात्रों को एकदम कोई नया मनमाना रूप देना भारती के पवित्र मन्दिर में व्यर्थ गड़बड़ मचाना है।

शुद्ध मर्मानुभूति द्वारा प्रेरित कुशल कवि भी प्राचीन आख्यानों को बराबर लेते आये हैं और अब भी लेते हैं। वे उनके पात्रों में अपनी नवीन उद्भावना का, अपनी नई कल्पित बातों का, बराबर आरोप करते हैं, पर वे बातें उन पात्रों के चिर-प्रतिष्ठित आदर्शों के मेल में होती हैं। केवल अपने समय की परिस्थिति-विशेष को लेकर जो भावनाएँ उठती हैं उनके आश्रय के लिए जब कि नये आख्यानों और नये पात्रों की उद्भावना स्वच्छन्दतापूर्वक की जा सकी है तब पुराने आदर्शों को विकृत या खण्डित करने की क्या आवश्यकता है?

कर्म-सौन्दर्य के जिस स्वरूप पर मुग्ध होना मनुष्य के लिए स्वाभाविक है और जिसका विधान कवि-परम्परा बराबर चलाती चली आ रही है, उसके प्रति उपेक्षा प्रकट करने और कर्म-सौन्दर्य के एक दूसरे पक्ष मे ही—केवल प्रेम और भ्रातृभाव के प्रदर्शन और आचरण में ही—काव्य का उत्कर्ष मानने का जो एक नया फैशन टाल्स्टाय के समय से चला है

वह एकदेशीय है। दीन और असहाय जनता को निरन्तर पीडा पहुँचाते चले जाने वाले क्रूर आततायियों को उपदेश देने, उनसे दया की भिक्षा माँगने और प्रेम जताने तथा उनकी सेवा-शुश्रूषा करने में ही कर्त्तव्य की सीमा नहीं मानी जा सकती, कर्मक्षेत्र का एकमात्र सौन्दर्य नहीं कहा जा सकता। मनुष्य के शरीर के जैसे दक्षिण और वाम दो पक्ष हैं वैसे ही उसके हृदय के भी कोमल और कठोर, मधुर और तीक्ष्ण दो पक्ष हैं और बराबर रहेंगे। काव्य-कला की पूरी रमणीयता इन दोनों पक्षो के समन्वय के बीच मगल या सौन्दर्य के विकास में दिखाई पडती है।

भावों की प्रतिक्रिया की समीक्षा से पता चलता है कि उदय से अस्त तक भाव-मण्डल का कुछ भाव तो आश्रय की चेतना के प्रकाश में (Conscious) रहता है और कुछ अन्तस्सज्ञा के क्षेत्र (Sub-conscious region) में छिपा रहता है। सचारी भावो के सचरण-काल में कभी-कभी उसके स्थायी भाव कारण-रूप अन्तस्सज्ञा के भीतर पड जाते हैं। रतिभाव में सचारी होकर आई हुई असूया या ईर्ष्या ही को लीजिए। जिस क्षण में वह अपनी चरम-सीमा पर पहुँची हुई होती है उस क्षण में आश्रय को ही रतिभाव की कोमल सत्ता का ज्ञान नहीं रहता, उस क्षण में उसके भीतर ईर्ष्या की तीक्ष्ण प्रतीति रहती है और बाहर ईर्ष्या के ही लक्षण दिखाई देते हैं। जिस प्रकार किसी आश्रय के भीतर कोई एक भाव स्थायी रहता है और अनेक भाव तथा अन्तर्दशाएँ उनके सचारी के रूप में आती हैं उसी प्रकार किसी प्रबन्धकाव्य के प्रधान पात्र में कोई मूलप्रेरक भाव या बीजभाव रहता है जिसकी प्रेरणा से घटना-चक्र चलता है और अनेक भावों के स्फुरण के लिए जगह निकलती चलती है। इस बीजभाव को साहित्य-ग्रन्थों में निरूपित स्थायीभाव और अगीभाव दोनों से भिन्न समझना चाहिए।

बीजभाव द्वारा स्फुरित भावों में कोमल और मधुर—कठोर और तीक्ष्ण—दोनों प्रकार के भाव रहते हैं। यदि बीजभाव की प्रकृति मगल-विधायिनी होती है तो उसकी व्यापकता और निर्विशेषता के अनुसार सारे

प्रेरित भाव तीक्ष्ण और कठोर होने पर भी सुन्दर होते हैं। ऐसे बीजभाव की प्रतिष्ठा जिस पात्र में होती उसके सब भावो के साथ पाठको की सहानुभूति होती है अर्थात् पाठक या श्रोता भी रसरूप में उन्हीं भावो का अनुभव करते हैं जिन भावो की वह व्यंजना करता है। ऐसे पाठको का वास्तव में तादात्म्य नहीं होता ; चाहे उनकी व्यजना में रस की निष्पत्ति करनेवाले तीनो अवयव वर्त्तमान हो। राम यदि रावण के प्रति क्रोध या घृणा की व्यंजना करेंगे तो पाठक या श्रोता का भी हृदय उस क्रोध या घृणा की अनुभूति में योग देगा। इस क्रोध या घृणा में भी काव्य का पूर्ण सौन्दर्य होगा। पर रावण यदि राम के प्रति क्रोध या घृणा की व्यंजना करेगा तो रस के तीनों अवयवो के कारण "शास्त्र-स्थिति-सम्पादन"‡ चाहे हो जाय पर उस व्यंजित भाव के साथ पाठक के भाव का तादात्म्य कभी न होगा। पाठक केवल चरित्र-द्रष्टा मात्र रहेगा, उसका केवल मनोरंजन होगा, भाव में लीन करनेवाली प्रथम कोटि की रसानुभूति उसको न होगी।

ऊपर कहा गया है कि किसी शुभ बीजभाव की प्रेरणा से प्रवर्त्तित तीक्ष्ण और उग्र भावो की सुन्दरता की मात्रा उस बीजभाव की निर्विशेषता और व्यापकता के अनुसार होती है। जैसे, यदि करुणा किसी व्यक्ति की विशेषता पर अवलम्बित होगी—कि पीडित व्यक्ति हमारा कुटुम्बी मित्र है—तो उस करुणा के द्वारा प्रवर्त्तित तीक्ष्ण या उग्र भावो में उतनी सुन्दरता न होगी। पर बीज रूप में अन्तस्संज्ञा में स्थित करुणा यदि इस ढब की होगी कि इतने पुरवासी, इतने देशवासी या इतने मनुष्य पीडा पा रहे हैं तो उसके द्वारा प्रवर्त्तित तीक्ष्ण या उग्र भावो का सौन्दर्य उत्तरोत्तर अधिक होगा। यदि किसी कार्य में वर्णित दो पात्रों में एक तो

---

‡रसव्यक्तिमपेक्ष्यैषामङ्गानां सन्निवेशनम्।
न तु केवलया शास्त्र-स्थिति-सम्पादनेच्छया॥

—साहित्यदर्पण

अपने भाई को अत्याचार और पीडा से बचाने के लिए अग्रसर हो रहा है और दूसरा किसी बड़े भारी जन-समूह की तो गति में बाधा डालनेवालों के प्रति, दोनों के प्रदर्शित क्रोध के सौन्दर्य के परिमाण में बहुत अन्तर होगा।

भावों की छानबीन करने पर मगल का विधान करनेवाले दो भाव ठहरते हैं—करुणा और प्रेम। करुणा की गति रक्षा की ओर होती है और प्रेम की रजन की ओर। लोक में प्रथम साध्य रक्षा है। रजन का अवसर उसके पीछे आता है। अत साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलनेवाले काव्यों का बीजभाव करुणा ही ठहरता है। इसी से शायद अपने दो नाटकों में रामचरित को लेकर चलनेवाले महाकवि भवभूति ने 'करुण' को ही एकमात्र रस कह दिया। रामायण का बीजभाव करुणा है जिसका सकेत क्रौंच को मारनेवाले निषाद के प्रति वाल्मीकि के मुंह से निकले वचन द्वारा आरम्भ ही में मिलता है। उसके उपरान्त भी बालकाण्ड के पन्द्रहवें सर्ग में इसका आभास दिया गया है जहां देवताओं ने ब्रह्मा से रावण-द्वारा पीडित लोक की दारुण दशा का निवेदन किया है। उक्त आदि-काव्य के भीतर लोक-मगल की शक्ति के उदय का आभास ताडका और मारीच के दमन के प्रसग में ही मिल जाता है। पचवटी से वह शक्ति जोर पकडती दिखाई देती है। सीता-हरण होने पर उसमें आत्मगौरव और दाम्पत्य प्रेम की प्रेरणा का भी योग हो जाता है। ध्यान देने की बात यह है कि इन आत्म-गौरव और दाम्पत्य प्रेम की प्रेरणा बीच से प्रकट होकर उस विराट् मगलोन्मुखी गति में समन्वित हो जाती है। यदि राक्षसराज पर चढ़ाई करने का मूल कारण केवल आत्मगौरव या दाम्पत्य प्रेम होता तो राम के 'कालाग्नि-सदृश क्रोध' में काव्य का यह लोकोत्तर सौन्दर्य न होता। लोक के प्रति करुणा जब सफल हो जाती है, लोक जब पीडा और विघ्न-बाधा से मुक्त हो जाता है तब राम-राज्य में जाकर लोक के प्रति प्रेम-प्रवर्तन का, प्रजा के रजन का उसके अधिकाधिक सुख के विधान का, अवकाश मिलता है।

जो कुछ ऊपर कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि काव्य का उत्कर्ष

केवल प्रेमभाव की कोमल व्यंजना में ही नहीं माना जा सकता जैसा कि टाल्स्टाय के अनुयायी या कुछ कलावादी कहते हैं। क्रोध आदि उग्र और प्रचण्ड भावो के विधान में भी, यदि उनकी तह में करुणा-भाव अव्यक्त रूप में स्थित हो, पूर्ण सौन्दर्य का साक्षात्कार होता है। स्वतन्त्रता के उन्मत्त उपासक, घोर परिवर्त्तनवादी शैली के महाकाव्य (The Revolt of Islam) के नायिक-नायिका का अत्याचारियो के पास जाकर उपदेश देनेवाले, गिड़गिड़ानेवाले, अपनी साधुता, सहनशीलता और शांत वृत्ति का चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन करनेवाले नहीं हैं। वे उत्साह की उमग में प्रचण्ड वेग से युद्ध-क्षेत्र में बढनेवाले; पाखण्ड, लोकपीड़ा और अत्याचार को देख पुनीत क्रोध के सात्विक तेज से तमतमाने वाले भय या स्वार्थ-वश आततायियो की सेवा स्वीकार करनेवालों के प्रति उपेक्षा प्रकट करनेवाले हैं। शैली ने भी काव्यकला का मूलतत्त्व प्रेमभाव ही माना था, पर अपने को सुख-सौन्दर्य-मय माधुर्यभाव तक ही बद्ध न रखकर प्रबन्धक्षेत्र में भी अच्छी तरह घुसकर भावों की अनेकरूपता का विन्यास किया था। स्थिर (Static) सौन्दर्य और गत्यात्मक (dynamic) सौन्दर्य, उपभोग-पक्ष और प्रयत्न-पक्ष, दोनों उनमें पाये जाते हैं।

टाल्स्टाय के मनुष्य-मनुष्य में भ्रातृ-प्रेम-संचार को ही एकमात्र काव्य-तत्त्व कहने का बहुत कुछ कारण साम्प्रदायिक था। इसी प्रकार कलावादियों का केवल कोमल और मधुर की लीक पकड़ना मनोरंजन मात्र की हलकी रुचि और दृष्टि की परमिति के कारण समझना चाहिए। टाल्स्टाय के अनुयायी प्रयत्न-पक्ष को लेते अवश्य हैं, पर केवल पीड़ितों की सेवा-शुश्रूषा की दौड़-धूप, आततायियो पर प्रभाव डालने के लिए साधुता के लोकोत्तर प्रदर्शन, त्याग, कष्ट-सहिष्णुता इत्यादि में ही उसका सौन्दर्य स्वीकार करते हैं। साधुता की इस मृदुल गति को वे 'आध्यात्मिक शक्ति' कहते हैं। पर भारतीय दृष्टि से हम इसे भी प्राकृतिक शक्ति—मनुष्य की अन्तःप्रकृति की सात्त्विक विभूति—मानते हैं। विदेशी अर्थ में इस 'आध्यात्मिक' शब्द का प्रयोग हमारी देशभाषाओं में भी प्रचार पा

रहा है। 'अध्यात्म' शब्द की, मेरी समझ में, काव्य या कला के क्षेत्र में कहीं कोई ज़रूरत नहीं है।

पूर्ण प्रभविष्णुता के लिए काव्य में हम भी सत्त्वगुण की सत्ता आवश्यक मानते हैं, पर दोनों रूपों में—दूसरे भावों की तह में अर्थात् अन्तस्सज्ञा में स्थित अव्यक्त बीजरूप में भी और प्रकाशरूप में भी। हम पहले कह आये हैं कि लोक में मंगलविधान की ओर प्रवृत्त करनेवाले दो भाव हैं—करुणा और प्रेम। यह भी दिखा लाये हैं कि क्रोध, युद्धोत्साह आदि प्रचण्ड और उग्र वृत्तियों की तह में यदि इन दोनों में से कोई भाव बीजरूप में स्थित होगा तभी सच्चा साधारणीकरण और पूर्ण सौन्दर्य का प्रकाश होगा। उच्च दशा का प्रेम और करुणा दोनों सत्त्वगुणप्रधान हैं। त्रिगुणों में सत्त्वगुण सबके ऊपर है। यहाँ तक कि उसकी ऊपरी सीमा नित्य पारमार्थिक सत्ता से पास तक—व्यक्त और अव्यक्त की सन्धि तक जा पहुँचती है। इसी से शायद वल्लभाचार्यजी ने सच्चिदानन्द के सत् स्वरूप का प्रकाश करनेवाली शक्ति को 'सन्धिनी' कहा है। व्यवहार में भी 'सत्' शब्द के दो अर्थ लिये जाते हैं—'जो वास्तव में हो' तथा 'अच्छा या शुभ।'

✓ जब कि अव्यक्तावस्था से छूटी हुई प्रकृति के व्यक्त स्वरूप जगत् में आदि से अन्त तक सत्त्व, रजस् और तमस् तीनों गुण रहेंगे तब समष्टिरूप में लोक के बीच मंगल का विधान करने वाली ब्रह्म की आनन्द-कला के प्रकाश की यही पद्धति हो सकती है कि तमोगुण और रजोगुण दोनो सत्त्वगुण के अधीन होकर उसके इशारे पर काम करें। इस दशा में किसी ओर अपनी प्रवृत्ति के अनुसार काम करने पर भी समष्टिरूप में और सब ओर वे सत्त्वगुण के लक्ष्य की ही पूर्ति करेंगे। सत्त्वगुण के इस शासन में कठोरता, उग्रता और प्रचण्डता भी सात्विक तेज के रूप में भासित होंगी। ✓ इसीसे अवतार-रूप में हमारे यहाँ भगवान् की मूर्ति एक ओर तो 'वज्रादपि कठोर' और दूसरी ओर 'कुसुमादपि मृदु' रखी गई है—

कुलिसहु चाहि कठोर अति, कोमल कुसुमहु चाहि।

स्मृति-संकेत

१—सौन्दर्यबोध की दृष्टि से काव्य दो प्रकार के हो सकते हैं—१. आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वाले। २. आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष को लेकर चलने वाले।

२—प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वाले काव्यो को Poetry as energy कहा जा सकता है पर उपभोग पक्ष को लेकर चलने वाले काव्यों को Poetry as an art नही कह सकते; क्योंकि Art या कला की स्थिति तो दोनो प्रकार के काव्यो में होती है।

३—रामायण, पद्मावत उत्तरार्ध या भूषण आदि जिन कवियो की रचना में विश्व में सुख-शान्ति व सौन्दर्य की स्थापना व रक्षा के लिये शान्ति व सौन्दर्य के विघातक रावण, औरगजेब, अलाउद्दीन आदि दूषित तत्त्वो के विनाश का वर्णन किया गया है वे प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वाले काव्य हैं।

४—इसके विपरीत विद्यापति, सूर, विहारी आदि जिन कृष्णभक्त तथा शृङ्गारिक कवियो ने केवल सुख, सौन्दर्य और माधुर्य आदि भावों का ही मुख्य रूप से चित्रण किया है वे उपभोग-पक्ष को लेकर चलने वाले कवि हैं।

५—दुर्वृत्तियो के निवारण का प्रयत्न चाहे सफल हो या न हो, वह सदा सुन्दर ही रहेगा। जैसे:—रत्नसेन के असफल और अलाउद्दीन के विजयी हो जाने पर भी पद्मावत का सौन्दर्य आरम्भ से अन्त तक एकसा है।

६—यदि वह प्रयत्न सफल हो गया तो उसमें धर्म की जय के कारण प्रभु की पूर्ण कला का दर्शन होता है।

७—मगल के अन्तिम विजय को अस्वाभाविक नहीं समझना चाहिये, क्योंकि अमगल को भी उतना ही आतककारी और वीच-वीच में कई वार सफल भी दिखाया जाता है।

८—प्राय लोग मगलकारी नामक रूप-सौन्दर्य और कर्म-सौन्दर्य दोनो से युक्त होते हैं ।

९—काव्य के जिस पात्र में मूल प्रेरक भाव की प्रकृति मगल-विधायिनी होती है उसी के साथ पाठक की सहानुभूति होती है और उसी के साथ भावनाओ का तादात्म्य । इसलिये समाज में चिरप्रतिष्ठित आदर्शको को बगला-कवि नवीनचन्द्र की भाँति विकृत नही करना चाहिए ।

१०—कर्म-सौन्दर्य का केवल एक पक्ष सेवा और शान्तिभाव आदि ही पर्याप्त नही है । उसका कठोर पक्ष भी आवश्यक है । सत्त्व गुण की प्रधानता होनी चाहिये, पर राज और तम भी उसके अधीन कार्य करते रहे ।

११—करुणा और प्रेम ये दो ही लोकमगलकारी प्रमुख भाव हैं । करुणा में रक्षा की भावना और प्रेम में रजन की भावना निहित है । रामायण आदि प्रयत्न-पक्ष के काव्यो में करुणा-भाव और उपभोग-पक्ष के काव्यो में प्रेम-भाव मुख्य रहता है ।

१२—करुणा और प्रेमभाव जितने अधिक निर्वैयक्तिक होंगे उतने ही व्यापक और प्रभाव शाली होंगे ।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य में मनोविज्ञान



—इलाचन्द्र जोशी

हिन्दी में हम पहले-पहल सूरदास और तुलसीदास की कृतियों में मनोवैज्ञानिकता का आभास पाते हैं। पर ये दोनों कवि बहुत से दृष्टि-कोणों से महान् रचयिता होते हुए भी गहरे स्तर के मनोवैज्ञानिक चमत्कार नहीं दिखा पाये। फिर भी जिस मध्यम स्तर की मनोवैज्ञानिकता निदर्शन उन्होंने किया है वह उस युग की बौद्धिक जड़ता को देखते हुए कम प्रशंसनीय नहीं है। उस जड़ मध्ययुग में उन्होने मानव-मनोद्वेगों के जिस ज्ञान का परिचय दिया वह उन्नीसवीं सदी के यूरोपिन कथाकारो की अपेक्षा अधिक उन्नत था, आधुनिक युग में शरत्चन्द्र का मनोविज्ञान भी उनके आगे नहीं ठहर पाता। सूरदास ने राधा और कृष्ण के बाल्यकाल से आरम्भ करके उनकी परिणत यौवनावस्था तक की प्रेमलीला का जो भावपूर्ण और मनोवैज्ञानिक वर्णन किया है, वह इतना हृदयग्राही और मार्मिक है कि उसे देखते हुए शरत्चन्द्र की सारी विशेषताएँ फीकी जँचने लगती हैं। तुलसीदास ने रामचरित-मानस के अयोध्याकाण्ड में मानव के स्वार्थ और परमार्थ, प्रेम और घृणा तथा अतरात्मा की परस्पर विरोधी उलझनों के संघर्ष और विघर्ष का जो मार्मिक और विस्फोटात्मक वर्णन किया है (जिसकी चरम परिणति भरत के चरित्र-चित्रण में हुई है) वह मध्यम-युग में शेक्सपीयर और उन्नीसवीं सदी में डास्टाएव्स्की के मनोवैज्ञानिक सघान-विधानात्मक चित्रण से किसी अश में न्यून नहीं है बल्कि अधिक उन्नत है इसलिए कि उनका ध्येय उनकी तुलना में अधिक कल्याणकारी है।

सूरदास और तुलसीदास के बाद रीतिकालीन कवियों ने मानव मन के एकदम ऊपरी स्तर की छिछली रागात्मक प्रवृत्तियों के सारहीन स्वरूप का वर्णन किया और उसीमें उनकी शब्द-जाल-पूर्ण कविता-कला की सारी चातुरी समाप्त हो गई। द्विवेदी-युग में अन्तर-विज्ञान के क्षेत्र में कवियों और लेखकों का जैसे दिवाला ही निकल गया।

छायावाद के युग में अंतर वैज्ञानिकता की ओर कवियों का झुकाव फिर से दिखाई दिया। पर इस युग में मानव की अतप्रवृत्तियों के निर-पेक्ष विवेचन और विश्लेषण के बजाय कवियों ने अपने मन के उद्वेगो का मुक्त उद्गार ही अधिक व्यक्त किया पर छायावाद-युग की कविताओं का मनोविज्ञान अपनी प्रारम्भिक अवस्था में था। इधर कुछ नवीन कवियों ने अपनी अति-प्रकृत (Surrealist) कविताओं में जिस बाहरी कोटि की मनोवैज्ञानिकता का परिचय दिया है वह वास्तव में हिन्दी कविता के वहुत उज्ज्वल भविष्य की ओर सकेत करता है। हाल में अज्ञेय जी ने 'तारसप्तक' नाम से कुछ एक नवीन कवियों की कविताओं का सकलन प्रकाशित कराया है जिसमें स्वय उनकी भी सुन्दर और महान् मनोवैज्ञाविक कविताएँ हैं।

कथा-साहित्य के क्षेत्र में द्विवेदी-युग के समाप्ति-काल में प्रेमचदजी का आविर्भाव हुआ। प्रेमचदजी ने अपनी रचनाओं में मनोविज्ञान को किंचित् प्रश्रय देने का प्रयास अवश्य किया पर अव्वल में जिस स्तर में मनोविज्ञान को वह प्रश्रय देना चाहते थे वह यों भी अत्यन्त छिछला और केवल ऊपरी सतह को छूनेवाला था, तिस पर वह ऊपरी सतह के मनोविज्ञान को भी ठीक से अपना नहीं पाए। इसका कारण स्पष्ट था। वह मानव-जगत् के बाह्य सघर्षो से इस कदर प्रभावित थे, और उनके विवेचन में इस हद तक उलझे हुए थे कि वे अन्त.सघर्षो की ओर ध्यान देने का अवकाश ही उन्हें नहीं था। उनके समस्त उपन्यासों में अधिक-तर बाह्य जीवन के आघात-प्रघातो के ही चित्रण मिलते हैं—अतप्र-वृत्तियों के आधार से रहित। यही कारण है कि जिस उन्नत 'मिशन'

को लेकर वह चले थे उसे वास्तविक अर्थ में पूरा करने में वह एकदम असफल रहे। क्योंकि उसी वाह्य जीवन-चक्र का चित्रण सच्ची सफलता प्राप्त कर सकता है जो अंतर्जीवन-चक्र पर आधारित हो, उसी प्रकार अंतर्जीवन की वही प्रगति श्रेयोन्मुखी हो सकती है जो वाह्य और अंतर— दोनों जीवन की प्रगतियाँ एक-दूसरे से अन्योन्याश्रित सम्बंध रखती है। जो भी लेखक इन दोनों में से किसी एक को अपनाकर दूसरे की अवज्ञा करेगा उसकी एकांगीयता निराधार और निरर्थक सिद्ध होगी। प्रेमचन्द्रजी ने ग्रामीण जीवन के चित्रण में चाहे कैसी ही सफलता क्यों न पाई हो, और किसानों और जमींदारों का सघर्ष चाहे कैसी ही तीव्रता के साथ अपनी रचनाओं में प्रदर्शित क्यो न किया हो, इस ध्रुव निश्चित और सुस्पष्ट सत्य को उनके सैकड़ों, बल्कि हजारों स्वपक्षी, स्वयं श्री आलोचक भी दवा नहीं सकते कि औपन्यासिक कला के चमत्कार-प्रदर्शन में और जीवन के किसी भी मार्मिक सत्य के उद्घाटन में वह पूर्णतया असफल रहे। हिंदी में उनके समय तक उपन्यास साहित्य प्रायः शून्य होने के कारण उन्होंने वड़े अंश तक उसकी पूर्ति की, इसका श्रेय तो उनको है, और इसके लिए वह आदरणीय रहे हैं और रहेंगे। पर आज भी, जब कि हिंदी का उपन्यास-साहित्य लम्बी छलांगें भरकर बहुत आगे वढ़ चुका है, यदि हम लोग कुछ व्यस्त स्वार्थ वाले, गुटो तथा व्यक्तियों का अनुकरण करते हुए उन्हें 'महान् कलाकार' तथा 'उपन्यास-सम्राट्' के विशेषणों से विभूषित करते हुए उनमें उन गुणो का आरोप करते चले जावें जो उनमें नहीं थे, तो निकट भविष्य में यह मूर्खता वैसी ही हास्यास्पद् सिद्ध होगी जैसी द्विवेदी युग के उन आलोचकों की नासमझी छायावादी युग में सब के आगे उपहास-योग्य प्रमाणित हो गई जिन्होने गुप्त जी की 'भारत-भारती' को काव्य-कला की एक अत्यन्त महान् कृति घोषित करने में कोई वात उठा नहीं रखी थी। 'भारत-भारती' में भी प्रेमचन्द्रजी की रचनाओ की ही तरह भारत की दुर्वशा का वर्णन करते हुए दलित और शोषित वर्ग की दुर्वशा के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की गई थी। पर इस

बात से आज सभी एकमत हैं कि यह रचना, कला की किसी भी परिभाषा के अन्तर्गत नहीं आती और इस कारण हर दृष्टि से वह महत्वहीन है। स्वयं गुप्त जी के आगे यह बात बाद में स्पष्ट हो गई थी, और इसलिए उन्होंने अपनी बाद की रचनाओं में (साकेत, 'यशोधरा' आदि में) मनुष्य के अंतर्जीवनचक्र की प्रगति की उपेक्षा नहीं की। 'भारत-भारती' को इस समय जो साहित्यिक मूल्य प्राप्त है वही निकट भविष्य में प्रेमचन्दजी की समस्त रचनाओं को मिलना अनिवार्य है, और तब स्वभावत: उन आलोचकों की बुद्धि का भी मूल्यांकन भावी साहित्यिकों के आगे सुस्पष्ट हो जावेगा जो इस समय किन्हीं व्यस्त स्वार्थों से प्रेरित होकर प्रेमचन्द जी को महान् कलाकार सिद्ध करने पर तुले हैं और उनकी आड़ में उन नये उपन्यासकारों की निन्दा और उपहास करना अपना परम कर्तव्य समझ बैठे हैं जिन्होंने प्रेमचन्द्रजी की तरह अंतर्जीवन की प्रगति और मनोवैज्ञानिक सत्यों की उपेक्षा नहीं की है।

आधुनिक भारतीय साहित्य में मनोवैज्ञानिक उपन्यास की नींव बंकिमचन्द्र ने डाली थी। उनके अधिकांश उपन्यास सर वाल्टर स्काट की रचनाओं की तरह ऐतिहासिक घटनाचक्रों पर आधारित हैं, पर उनके तीन उपन्यास 'रजनी', 'कृष्णकातेर उइल' और 'विषवृक्ष' मनोवैज्ञानिक धरातल पर प्रतिष्ठित हैं। विशेषकर 'विषवृक्ष' में उन्होंने जिस कोटि के मनोविज्ञान का अवलम्ब ग्रहण किया है, वह उन्नीसवीं सदी के पाश्चात्य लेखकों की श्रेष्ठ रचनाओं से टक्कर लेता है। अन्तर केवल यह है कि बंकिम ने व्यक्ति के अन्तर्जीवन का समाज के बाह्य जीवन से संघर्ष दिखाकर दोनों के सामञ्जस्य का मार्ग निर्देशित किया है और उनके समसामयिक पाश्चात्य लेखकों ने केवल संघर्ष की तीव्रता दिखाकर ही अपना कर्तव्य पूरा हुआ माना है।

बंकिम के बाद की रवीन्द्रनाथ की 'चोखेरबाली', 'आंख की किरकिरी', में सबसे पहले मनोविज्ञान आया है जिसकी चरम-परिणति रवीन्द्रनाथ ने 'घरे बाहरे' में की है। 'चोखेरबाली' में रवीन्द्रनाथ ने

मनोविज्ञान के साथ खेला है। इस उपन्यास में मनोविज्ञान न अपने गहरे रूप में आया है न वह अपनी सार्थकता ही प्रमाणित कर पाया है। पर 'घरे वाहरे'—'घर और वाहर'—में गहन मनोवैज्ञानिक सत्य उद्घाटित किए हैं और अन्तर्जीवन के साथ वाह्य जीवन के संघर्ष का चित्रण ऐसी कलात्मक मार्मिकता के साथ किया गया है जो उच्चकोटि की औपन्यासिक कला की प्रधान विशेषता है। पर उस संघर्ष को रवीन्द्रनाथ ने जीवन का एकमात्र सत्य नहीं माना है। सभी श्रेष्ठ आदर्शवादी कलाकारों की तरह उन्होंने उक्त संघर्ष के द्वारा जीवन के सामंजस्य का सूत्र पकडा है। उन्होंने वाह्य जीवन की उपेक्षा नहीं की है, पर अन्तर्जीवन से रहित जीवन को महत्व देना उनके समान वास्तविक अर्थ में महान् कलाकार के लिए असम्भव था।

रवीन्द्रनाथ के बाद शरत्चन्द्र ने अपने कलात्मक आदर्शों के प्रस्फुटन में मनोविज्ञान का आश्रय ग्रहण किया। पर शरत्चन्द्र अपने मनोविज्ञान में स्वयं उलझकर रह गए। मनोवैज्ञानिक पात्रो के चरित्र-चित्रण में जिस बौद्धिक निरपेक्षता की आवश्यकता है, उसका उनमें नितान्त अभाव था। फल यह देखने में आया कि उनके अधिकांश उपन्यासों के जो नायक निरपेक्ष मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से अत्यन्त दुर्बल-चरित्र और समाजघाती उतरते हैं उनके प्रति उन्होंने पूर्ण सहानुभूति प्रतिष्ठित करके उन्हें आदर्श रूप में पाठकों के आगे रखा है। यह कमी रवीन्द्रनाथ में कभी नहीं रही। उनकी मनोवैज्ञानिक दृष्टि जैसी पैनी रही है वैसी ही तीखी उनकी बौद्धिक निरपेक्षता भी रही है। यही कारण है कि क्या 'चोखेरवाली' में और क्या 'घरे वाहरे' में उन्होंने अपने नायकों के चरित्र को आदर्शस्वरूप मानकर चित्रित नहीं किया।

आश्चर्य की वात है कि शरत् का जादू हिन्दी के आलोचको तथा पाठको पर व्यापक रूप से छा गया, किन्तु हिन्दी के प्रमुख उपन्यासकार उस जादू के प्रभाव से एकदम मुक्त रहे। इसके विपरीत रवीन्द्रनाथ की औपन्यासिक कला का प्रभाव जिस हद तक हमारे कुछ विशेष उपन्यास-

कारों पर पड़ा उस हद तक हमारे आलोचकों पर नहीं पड़ा। उदाहरण के लिए जैनेन्द्र जी की 'सुनीता' में रवीन्द्रनाथ के 'घरे बाहरे' का प्रभाव सुस्पष्ट रूप से परिस्फुटित है। 'घरे-बाहरे' का नायक निखिलेश जिस प्रकार अपनी पत्नी विमला की व्यावहारिक तथा मानसिक गतिविधि के प्रति उदार भाव रखता है और खतरा देखते हुए भी उसे पर्दे से बाहर निकालने में सक्रिय दीखता है, उसी प्रकार 'सुनीता' का नायक श्रीकांत भी अपनी पत्नी सुनीता के प्रति अत्यधिक उदार रहता है और उसे घर की तंग चहारदीवारी से बाहर विश्व के मुक्त प्रांगण में स्वच्छन्द विचरने के लिए छोड़ देना चाहता है। जिस प्रकार 'घरे बाहरे' में क्रान्तिकारी सदीप विमला से घनिष्ठता बढ़ाता है और उसे केवल अपने हृदय की रानी नहीं, बल्कि अपने दल की भी 'मक्खी रानी' बनाना चाहता है और निखिलेश उसमें सहायक होता है, उसी प्रकार 'सुनीता' में क्रान्तिकारी हरिप्रसन्न सुनीता को अपनी सब कुछ बनाने की इच्छा रखते हुए भी अपने दल के बीच में भी उसे देवी के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहता है और सुनीता का पति श्रीकान्त सुनीता और हरिप्रसन्न के बीच की घनिष्ठता में सहायक सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार विमला पतन के गढ़े में गिरते-गिरते सँभल जाती है, उसी प्रकार सुनीता भी ऐन मौके पर केवल स्वयं सँभल नहीं जाती बल्कि हरिप्रसन्न को भी संभाल लेती है।

पर यह सब होते हुए भी यदि कोई पाठक 'सुनीता' की मौलिकता में तनिक भी सन्देह करे तो वह अपनी घोर अज्ञता का परिचय देगा। वास्तव में जहाँ तक मनोवैज्ञानिकता की बारीकी का प्रश्न है वहाँ जैनेन्द्र जी रवीन्द्रनाथ को भी पीछे छोड़ गए हैं। रवीन्द्रनाथ ने अपने पात्रों की मनोवैज्ञानिकता के केवल कुछ विशेष-विशेष पहलुओं को ही लिया है और बारीकियों को वह छोड़ते चले गए हैं। इसके अतिरिक्त रवीन्द्रनाथ के पात्र उतने जटिल हैं भी नहीं जितने जैनेन्द्र जी के। निखिलेश विमला और सदीप क्रम से श्रीकान्त, सुनीता और हरिप्रसन्न से ऊपरी

साम्य रखते हुए भी दोनो पक्ष मन की गुत्थियों, जटिलताओं के रूपों में एक-दूसरे से बहुत दूर पड़ जाते हैं। रवीन्द्रनाथ के पात्रो की जटिलता मनोवैज्ञानिक उतनी नहीं है जितनी कि सैद्धांतिक। उनके प्रत्येक पात्र के जीवन के कुछ सिद्धांत स्थिर और निश्चित बने हुए हैं। जैनेन्द्र जी के पात्रो के भी किसी हद तक अपने कुछ निश्चित सिद्धात हैं, पर साथ ही उनके मन की गुत्थियां बहुत ही अधिक उलझी हुई हैं। अपने पात्रों की उन जटिल गुत्थियो को सुलझाने की जो दिक्कत जैनेन्द्र जी को पडती है वह रवीन्द्रनाथ को नहीं पडती। जैनेन्द्र जी की यह बहुत बडी विशेषता है कि उन्होंने उन जटिल गुत्थियों को बड़ी सफाई के साथ सुलझाने की चेष्टा की है और बड़ी हद तक उसमें सफलता पाई है। हरिप्रसन्न जैसे अज्ञेय और गुमसुम व्यक्ति के मन के गहनतम स्थान में दबी पड़ी उलटी-सीधी प्रवृत्तियो की जटिल और कुटिल गांठों को एक-एक करके खोलकर सुलझे हुए रूप में उन्हें पाठकों के आगे रखना किसी साधारण योग्यता वाले लेखक के बूते की बात नहीं है। यही बात सुनीता के समान जटिल-प्रकृति नारी के रहस्यमय मनोजाल के उद्घाटन के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। साथ ही यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि रवीन्द्र का संदीप बहिरोन्मुख (Extrovert) है और जैनेन्द्र जी का हरिप्रसन्न अंतरोन्मुख (Introvert) है। दोनो में यह मूलघात अंतर है। इन सब कारणों से दोनो उपन्यासों में ऊपरी साम्य देखकर पाठकों को भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए।

'सुनीता' में जैनेन्द्र जी का वही उद्देश्य रहा है जो किसी भी श्रेष्ठ कलाकार का रहना चाहिये। इनके पात्र अंतर्जगत् में अपने विकास का पथ खोजते हैं। दोनों के बीच संघर्ष चलता है और अन्त में दोनो के बीच का मार्ग ग्रहणकर वे जीवन में सामंजस्य का सूत्र पकड़ने की ओर उन्मुख होते हैं। जैनेन्द्र जी की मनोवैज्ञानिकता की सार्थकता इसी बात पर है।

उपन्यास-कला में मनोवैज्ञानिकता का एक और उद्देश्य माना जा सकता है—जो प्राचीन ग्रीक पंडित अरस्तू का भी मत रहा है। वह

उद्देश्य यह है कि कलाकार अपनी रचना में प्रचंड आतंक और मार्मिक करुणा का वातावरण उत्पन्न करके अपने पात्रों के मनोविकारों के क्षालन (और स्वभावत. उन्नतीकरण) के साथ ही पाठकों के मन पर भी वही प्रभाव डालता है—अर्थात् उनके भी अपने मनोविकारों के क्षालन और उन्नतीकरण में सहायता पहुँचाता है। जैनेन्द्र जी की 'कल्याणी' और 'त्यागपत्र' की निर्मम मनोवैज्ञानिकता इसी कारण सार्थक है, और उनका उद्देश्य संकीर्णप्राण 'मनोवैज्ञानिक' आलोचक की छिद्रान्वेषी हीनदृष्टि को भले ही समाजघाती लगे, पर वास्तव में वह कल्याणोन्मुखी है। 'कल्याणी दरअसल कल्याणी है, पर उसके भीतर विहित कल्याणीयता की खोज के लिए वास्तविक अर्थ में निरपेक्ष मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि और साथ ही स्वस्थ और सबल साहित्यिक सप्राणता होनी चाहिए, नहीं तो क्षीणप्राण छिद्रान्वेषी आलोचक उसमें विनाश और वीभत्सता के अतिरिक्त और कुछ नहीं देख पावेगा।

कुछ शुतुरमुर्ग प्रेमी आलोचकों ने आधुनिक मनोविज्ञान के व्याकरण का किंचित् ज्ञान प्राप्त कर लिया है और अपने उसी अधूरे व्याकरण ज्ञान से दुर्विदग्ध होकर उन्होंने अपनी संकुचित दृष्टि से जैनेन्द्र जी की मनोवैज्ञानिक रचनाओं की छानबीन की है और उन्हें समाजघाती तथा अकल्याणकारी बताया है। मनोविज्ञान के इन अधकचरे प्रूफ-रीडरों को इस बात का पता नहीं है कि कोई भी प्रतिभाशाली कलाकार किसी भी मनोविज्ञान स्कूल के व्याकरण का अनुगमन नहीं करता, बल्कि उल्टा मनोविज्ञान उसके गहन जीवन-सम्बन्धी अनुभवों के अनुसार अपने निर्णय में सुधार करता रहता है।

जैनेन्द्र जी वास्तविक अर्थ में हिन्दी के प्रमुख मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार हैं। उन्होंने हिन्दी साहित्य की निर्जीव औपन्यासिकता में (जिसमें या तो किसानों तथा जमींदारों के बीच संघर्ष दिखाने वाले निर्जीव कठपुतली का खेल दिखाया जाता था या काव्य-जगत् के अवास्तविक जीवों के 'स्वर्गीय प्रेम' का स्वांग भरा जाता था) सप्राण और अन्तर्संङ्घर्षशील

पात्रों की सजीवता भर दी।

जैनेन्द्र जी के बाद हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यास क्षेत्र में 'अज्ञेय' जी का नाम लिया जा सकता है। अज्ञेय जी की 'शेखर-एक-जीवनी' दो खडो में प्रकाशित हुई है। वास्तव में उपन्यास के पारिभाषिक अर्थ में इस रचना को उपन्यास नहीं कहा जा सकता। यह जीवनी, उपन्यास और दर्शन के बीज की कोई चीज है। प्रथम खंड में अक्सर एक-एक, दो-दो पैरा के बाद नया प्रकरण आरम्भ हो जाता है और अधिकांश स्थलों मे प्रत्येक प्रकरण अपने आप में समाहित-सा लगता है और बहुत से स्थलों में उन छोटे-छोटे स्वतन्त्र प्रकरणों में मूल 'जीवनी' सम्बन्धी कोई बात कही जाने के बजाय लेखक ने अपने स्वतन्त्र 'दार्शनिक-विचार' सम्बन्धी उद्‌गार प्रकट किये हैं। दूसरे खंड में कुछ संबद्धता अवश्य पाई जाती है, पर खडित प्रकरणों में वह भी अछूता नहीं है।

यह सब होते हुए भी हमने 'शेखर' की गणना मनोवैज्ञानिक उपन्यासो में इन कारणों से की है—एक तो यह कि जब तक इस कोटि की मिश्रित रचना का कोई निश्चित और स्वतन्त्र नामकरण नहीं हो जाता तब तक उसे उपन्यास ही कहना होगा। दूसरे उसकी समग्रता को यदि लिया जाय, तो मानना होगा कि लेखक ने अपने नायक के चरित्र का विकास मूलतः मनोवैज्ञानिक आधार पर ही कराया है यद्यपि वह मनोवैज्ञानिकता बीच-बीच में दार्शनिक रूप धारण कर लेती है।

प्रारम्भ से लेकर अन्त तक शेखर के चरित्र का विकास एक ही मूलगत आधार को लेकर हुआ है—और वह आधार है उसका अत्यन्त गहन, तीव्र, सर्वगामी और सर्वग्रासी अहंभाव। अपने इस गहरी जड़ो वाले अहभाव को शेखर नाना कलात्मक रगो से रञ्जित और विचित्र दार्शनिक सिद्धांतों से परिपुष्ट करता चला जाता है। व्यक्ति के अहंभाव के चरम विकास को ही शेखर ने जीवन का एकमात्र उन्नत ध्येय माना है, और सारी पुस्तक को पढ़ जाने के बाद इस सम्बन्ध में सन्देह के लिये कोई गुञ्जाइश नहीं रह जाती कि लेखक का अपना दृष्टिकोण भी यही है।

प्राचीन युग से लेकर आज तक जितने भी श्रेष्ठ कलाकार या दार्शनिक हुए हैं उन सबने व्यक्ति के अहंभाव के एकागीय विकास-मूलक साधना को केवल समाजघाती ही नहीं बल्कि आत्मघाती भी बताया है। शेखर की यह अहभावात्मक प्रगति जिस चरम विस्फोट के लिये उन्मुख होती चली गई है वह कभी कल्याणकारी नहीं हो सकती। पर इस उपाय से लेखक जिस आदर्श-सम्बन्धी वैपरीत्य को हमारे सामने रखता है वह परोक्ष रूप से—अपने प्रतिक्रियात्मक प्रभाव से—पाठकों के लिए हितकर सिद्ध हो सकता है। जो भी हो, 'शेखर' की दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक चातुरी महत्वपूर्ण है।

मेरे अपने उपन्यासो में अज्ञेय जी से ठीक उल्टा दृष्टिकोण प्रतिपादित हुआ है। मेरे सभी उपन्यासों का प्रधान उद्देश्य व्यक्ति के अहभाव की एकांतिकता पर निर्भय प्रहार करने का रहा है—'घृणामयी', 'सन्यासी', 'पर्दे की रानी', 'प्रेम और छाया', 'निर्वासित' इन पांचों उपन्यासों में मैंने इसी दृष्टिकोण को अपनाया है। आधुनिक समाज में पुरुष की बौद्धिकता ज्यों-ज्यों बढती चली जा रही है त्यों-त्यों उसका अहभाव तीव्र से तीव्रतर और व्यापक से व्यापकतर रूप ग्रहण करता चला जाता है। अपने इस कभी तृप्त न होने वाले अहभाव की अस्वाभाविक पूर्ति की चेष्टा में जब उसे पग-पग पर स्वाभाविक असफलता मिलती है, तो वह बौखला उठता है और उस बौखलाहट की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप वह आत्म-विनाश के पहले अपने आसपास के ससार के विनाश की योजना में जुट जाता है। उसकी इस विनाशात्मक क्रिया का सबसे पहला और सबसे घातक शिकार बनना पड़ता है नारी को। युगों से प्रपीडित और शोषितवर्ग है यह नारी। उसे और अधिक प्रपीडित और अधिक शोषित करने की चेष्टा में आज का अहवादी पुरुष बुद्धिवादी है, इसीलिये अपनी मनोवृत्ति की यथार्थता से बहुत-कुछ परिचय भी रहता है और इसी कारण उसके भीतर विस्फोटक सघर्ष मचते रहते है। साथ ही यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि उसी विस्फोट के उपादान

वर्तमान युग की बुद्धिवादिनी नारी की शोषित अन्तरात्मा में भी प्रलयंकर रूप से जुटते चले जा रहे हैं—किन्तु विपरीत दिशा में। अर्थात् भारतीय नारी के भीतर निकट भविष्य में जो विस्फोट होगा वह उसकी युग-युग से पीडित आत्मा के प्रचण्ड विद्रोह की सामूहिक घोषणा करेगा। यही कारण है कि धीरे-धीरे वर्तमान युग की बुद्धिवादिनी नारी का दृष्टिकोण यथार्थवादी बनता चला जा रहा है अर्थात् वह शरत्युग की नारी की तरह भावुकता के फेर में पड़कर अहंवादी पुरुष की इच्छा के बहाव में अपने को पूर्णतया बहाना और मिटा देना पसन्द नहीं करती, बल्कि स्थिति की वास्तविकता को समझकर व्यक्ति और समाज के अत्याचारो का सामना पूरी शक्ति से करने के योग्य अपने को बनाने की चेष्टा में जुट रही है। सामाजिक पर्दे के भीतर छिपे हुए इसी सत्य का उद्घाटन मनोवैज्ञानिक उपायों से करने का प्रयास मैंने किया है। चूंकि वर्तमान युग में अहंवाद और बुद्धिवाद का संघर्ष व्यक्तियों के भीतर उसी भीषण रूप में चल रहा है जिस प्रकार बाह्य जगत में महायुद्ध के रूप में सामूहिक अहंवाद और बुद्धिवाद का अन्तर्राष्ट्रीय सघर्ष, इसलिए उपन्यासकार को अत्यन्त जटिल प्रकृत पात्रो का विश्लेषण अत्यन्त गहरे स्तर की मनोवैज्ञानिकता के आधार पर करना पड़ता है; ऊपरी स्तर पर नजर डालने वाले पाठक उसे न समझ पाने के कारण उकता जावें तो कोई आश्चर्य नहीं। अन्य उपन्यासकारों की चर्चा यहां पर चलाना मै इसलिये यहां व्यर्थ समझता हूं कि उनमें से किसी का मनोविज्ञान तो मनोविज्ञान की आरम्भिक स्थिति-भाव-विज्ञान को भी पार नहीं कर सका है और किसी का मनोविज्ञान इस आरम्भिक अवस्था को भी नहीं पहुंच पाया है।

हर युग में, हर देश में और हर काल में प्रत्येक श्रेष्ठ कलाकार द्वारा अन्तर्जीवन का सत्य ही प्रधान सत्य माना जायगा। बीच-बीच के कट्टर भौतिकतावादी दार्शनिकों अथवा राजनीतिक क्रान्तिकारियों की तूती समहेत्य में क्षणिक रूप से बोल उठी है पर वह अन्तर्जगत् के प्रचंड

सत्य की भीषण बाढ़ में बह चली है। एकमात्र वही राजनीतिक सामाजिक अथवा दार्शनिक मतवाद साहित्य के स्थायी सत्य से किसी हद तक सम्बन्ध स्थापित कर सकेगा, जो अन्तर्जीवन के सत्य के आधार पर बाह्य जीवन की परिचालना और बाह्य जगत् की सामाजिक व्यवस्था का पथ निर्देशित कर सकेगा। आज हमारे मार्क्सवादी आलोचक साहित्य में प्रतिपादित किये गये मनोवैज्ञानिक सत्यों का उपहास करने पर तुले हैं, और अपने संगठित साहित्यिक प्रचार-कार्य द्वारा इस उद्देश्य की सफलता के लिये पूर्ण प्रयत्न कर रहे हैं कि साहित्य-कलाकार मनोविज्ञान को ताक पर रखकर अन्तर्जीवन के सत्यों की पूर्ण उपेक्षा करे और केवल उन राजनीतिक तथा समाजवादी तथ्यों का उद्घाटन करे जो बाह्य जीवन-चक्रों के पारस्परिक संघर्ष (श्रेणी-सघर्ष) के रूप में परिस्फुट होते हैं। पर निश्चित रूप से कल उन लोगों को यह मानना पड़ेगा कि राजनीतिक जीवन का सत्य, साहित्य में यथारूप किसी भी हालत में स्वीकृत नहीं किया जा सकता। बड़े-से-बड़े राजनीतिक सत्य को पहले वेष बदलकर अन्तर्जगत् में प्रवेश करना होगा, तभी वहाँ से वह मनोवैश्लेषिक उपायों से साहित्यिक सत्य के रूप में बाहर प्रस्फुटित हो सकता है। यथार्थवादी दृष्टि रखने वाले रूप ने प्रत्यक्ष अनुभवों के बाद इस परम सत्य को स्वीकार कर लिया है, पर हमारे तथाकथित आलोचक कुछ लकीर के फकीर अंग्रेज मार्क्सवादी आलोचकों का अन्ध अनुकरण करते हुए हिन्दी की मनोवैज्ञानिक सम्बन्धी नवीन औपन्यासिक रचनाओं की निन्दा और उपहास करना अपना परम कर्त्तव्य माने बैठे हैं। पर उनकी यह निराधार चेष्टा निश्चय ही चट्टान पर सिर पटकने के बराबर व्यर्थ सिद्ध होगी।

आज कुल मिलाकर हम यह कह सकते हैं कि हिन्दी का मनोवैज्ञानिक उपन्यास-साहित्य आश्चर्यजनक रूप से उन्नति कर रहा है और भारत की अन्य सभी भाषाओं के उपन्यास-साहित्य को इस क्षेत्र में बहुत पीछे छोड़कर आगे निकल गया है। आज वह न पाश्चात्य

जगत् के किसी मनोवैज्ञानिक स्कूल का आश्रय-प्रार्थी रह गया है न रवीन्द्रनाथ अथवा शरत् की औपन्यासिक रचनाओं के आधार का। आज हिन्दी का उपन्यासकार मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में जीवन के स्वतन्त्र अवयवो के स्वतन्त्र सत्यो को विश्व-साहित्य के प्रांगण में आत्मविश्वास के साथ रखने का दावा करता है।

स्मृति-संकेत

१—मध्य युग के हिन्दी कवियो ने केवल सूर के राधाकृष्ण के चित्रण तथा तुलसी के मानस के अयोध्याकाण्ड में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण मिलते हैं।

२—रीतिकाल से लेकर द्विवेदी युग तक के हिन्दी साहित्य में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण नही है।

३—वगला में वकिमचन्द्र चटर्जी के विषवृक्ष आदि उपन्यासो में और रविवावू के 'घरे वाहरे' में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है पर शरत्-चन्द के उपन्यासो में गम्भीर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण नही।

४—प्रेमचन्द जी के कथा-साहित्य में किसानो और जमीदारो के सघर्ष भले ही चित्रित हो पर वह कोई श्रेष्ठ उपन्यासकार नही।

५—जैनेन्द्र जी के सुनीता उपन्यास का कथानक भले ही रवीन्द्रनाथ ठाकुर के 'घरे वाहरे' पर आधारित हो, फिर भी वह मौलिक है। जैनेन्द्र जी भी हिन्दी के एक अच्छे मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार हैं। अज्ञेय जी का 'शेखर' एक जीवनी उपन्यास है यद्यपि उपन्यास नही, क्योकि ऐसी खिचडी रचना के लिए उन्हें और कोई उपयुक्त नाम नही मिलता। इसीलिए उसे मनोवैज्ञानिक उपन्यास कहा जाता है।

६—जोशी जी के सभी उपन्यासो में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण उत्तम है। उनमें अहवाद व वुद्धिवाद का प्रत्याख्यान है। इसीलिए जोशी जी के उपन्यास में श्रेष्ठ मनोविज्ञान है।

प्रगतिवाद की रूपरेखा



—प्रो० शिवबालकराय

वादों का विवाद हमें दर्शन-क्षेत्र में विशेष रूप से सुनाई पड़ता है—अद्वैतवाद, विवर्तवाद, विशिष्टाद्वैतवाद और न जाने इसी प्रकार के कितने वाद हुआ करते हैं। दर्शन और साहित्य का पारस्परिक सम्बन्ध होने के कारण इसकी आवाज इन दिनो साहित्य-क्षेत्र में भी काफी गूंजने लगी है। छायावाद, रहस्यवाद, हालावाद के विवाद स्वरो की झंकार गूंज ही रही थी कि एक और नया वाद 'ठम्' 'ठम्ठन' करता हुआ खड़ा हो गया है। यह नवीन वाद हिन्दी में प्रगतिवाद के नाम से प्रचलित हो गया है।

ऐतिहासिक दृष्टि से सन् १९३५ ई० के नवम्बर महीने में लदन में इस प्रगतिवाद का जन्म हुआ। वहाँ विश्व के क्रांतिकारी लेखकों की एक बैठक हुई और विश्व के 'प्रगतिशील-लेखक-सघ' की स्थापना हुई। इसी वर्ष इसका प्रथम अधिवेशन पेरिस में प्रसिद्ध उपन्यासकार ई० फॉरेस्टर के सभापतित्व में हुआ। भारतवर्ष में इसका सर्वप्रथम सम्मेलन प्रेमचन्द के सभापतित्व में सन् १९३६ ई० में लखनऊ में हुआ। इस प्रकार, इस प्रगतिशील शिशु को अभी मुश्किल से कुछ साल हुए हैं। यों विचार किया जाय तो प्रगतिवाद मार्क्सवाद का सहोदर भाई है। ससार में कार्लमार्क्स ही सर्वप्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने समाज के पूंजीवाद के प्रति, बुद्धि को अपील करनेवाली वैज्ञानिक आवाज़ उठाई। इग्लैंड की औद्योगिक क्रांति ने सामतशाही की चमक को क्षीण बना दिया। विज्ञान के आविष्कारों ने यातायात के साधनों को अत्यन्त सुगम बना दिया। वाणिज्य-व्यवसाय

का चतुर्दिक् प्रसार हुआ। 'सोइ सयान जो परधन हारी' गोस्वामीजी की इस परिभाषा को अंग्रेज़ों ने सार्थक बना दिया। पूंजीशाही गरीब जन-समुदाय को जोक के समान चूसती रहती है, खून सभी ग़ायब, लेकिन घाव का नाम नहीं। सारी दुनिया की जनता आज पूंजीवाद की ही चक्की में पीसी जा रही है। कार्लमार्क्स ने पूंजीवाद के इस वीभत्स-रूप की ओर जनसमुदाय का ध्यान आकर्षित किया। लेनिन जैसे निर्भीक हृदय माली ने सोवियत भूमि में लाल खून से मार्क्सवाद के पौधे को भली-भाँति सींचा। रूस की लाल क्रांति की लपटें और देशों में भी फैलती जा रही हैं। पूंजीवाद का मल समाजवाद की अग्नि में ही भस्मसात् हो सकता है। प्रत्येक देश की राजनीति में समाजवाद अपना विशिष्ट स्थान बनाता जा रहा है। राजनीति-क्षेत्र का समाजवाद साहित्य-क्षेत्र में प्रगतिवाद के रूप में अवतरित हुआ है।

प्रगतिवाद के पदार्पण के पूर्व हिन्दी साहित्य के मालतीकुंज में, चन्द्रिका-अंधेरी की मिश्रित झिलमिल छाया लिए छायावाद अपने सुख-सपने देख रहा था। जिस प्रकार द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता और स्थूलता की प्रतिक्रिया छायावाद के रूप में हुई, उसी प्रकार छायावाद की अत्यधिक कल्पनाशीलता, भावुकता और आदर्शवादिता की प्रतिक्रिया प्रगतिवाद के रूप में हुई। समाज में या समाज को प्रतिबिंबित करने वाले साहित्य में जब किसी भाव या विचार-विशेष की प्रधानता हो जाती है और वह प्रधानता अपनी सीमा का अतिक्रमण करना चाहती है तो उसकी रोक-थाम के लिए दूसरी भाव-धारा का प्रस्फुटन होता है। छाया-युग में भाव और भाषा दोनों के क्षेत्र में अतिशयता का समावेश हो रहा था। कल्पना के सुनील गगन में इतनी ऊँची उड़ानें भरी गईं कि भाव की भूरी धरती का ध्यान ही कवियों को नहीं रहा। पंत की 'छाया', 'नक्षत्र', 'बादल' आदि कविताओं में कल्पना की उन्मुक्त क्रीड़ा प्रदर्शित की गई है। मानव-हृदय में प्रेम एक अत्यन्त सुकुमार और सुकोमल भाव है, और इस भाव की प्रमुखता में भी किसी को इन्कार नहीं, परन्तु

केवल एक प्रेम का, चाहे वह भौतिक हो या आध्यात्मिक, एक-मात्र चित्रण करना कवियों का अभीष्ट नहीं होना चाहिए था। छाया-युग में प्रेम, विरह, करुणा, उल्लास, वेदना आदि भावों का विस्तार के साथ चित्रण हुआ है। छाया-युग के अधिकांश गीतों में विहगबालिका का कंठ-स्वर सुनाई पड़ता है। समाज के प्राणियों का सामूहिक स्वर नहीं। छाया-युग की कविता में कवि की वैयक्तिक भावना विशेष बल पकड़ रही थी, स्वांत सुखाय की ओर उनका विशेष ध्यान था। पहुँचे हुए कवि का स्वांतःसुखाय भी 'सर्वान्त सुखाय' के रूप में परिणत हो जाता है। चिरंतन साधना के बल से कवि अपने को इतना महान् और व्यापक बना लेता है कि उसके सुख-दुःख में संसार का सुख-दुःख समा जाता है। छाया-युग का स्वांत सुखाय सर्वान्त सुखाय में परिणत न हो सका।

भाषा की दृष्टि से भी छाया-युग के छन्दों की गूंज हमारी पर्ण-कुटीर की अपेक्षा व्रज प्रांतर और गिरि-गह्वर में अधिक सुनाई पड़ती थी। द्विवेदी-युग की ठेठ-शैली—कानों को फाड़नेवाली खड़ी बोली—का खड़ा-पन तो दूर हो गया लेकिन पग-पग पर नवनीत की कोमलता की अनुभूति भी अरुचिकर ही प्रतीत होती है। ऐसी पंक्तियों की कमी नहीं कि जिनमें से यदि 'हैं', 'था,' 'रहा' या ऐसे ही क्रिया-पद हटा दिये जायें तो वे शुद्ध संस्कृत-श्लोकों में परिवर्तित हो जायें। इसका कारण यह था कि हमारा काव्य लोक-पक्ष से दूर हटता जा रहा था, इसलिए उसमें लोक-भाषा का, 'देसिल बअना सब जन मिट्ठा' का समावेश न हो सका। इस कथन की पुष्टि के लिए निराला और महादेवी की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं —

अभरण भर वरण गान।
वन वन उपवन, उपवन, जागी छवि खुले प्राण।
वसन विकल तनु वल्कल, पृथु उर सुर पल्लव दल,
उज्ज्वल-दृग-कलिकल, पल निश्चल, कर रही ध्यान।
अभरण भर वरण गान।

मधुप-निकर कलरव भर, गीति मुखर, प्रिय-प्रिय स्वर,
स्मर शर, हर केशर झर, मधु पूरित गन्ध ज्ञान।
अमरण भर वरण गान।

[गीतिका से]

प्रिय गया है लौट रात !
सजल धवल अलस चरण, मूक मन्दिर मधुर करुण
चाँदनी है अश्रु-स्नात।......
युग-युग जल मूक विकल, पुलकित अब स्नेह तरल
दीपक है स्वप्नसात्। [नीरजा से]

भाषा और भाव की इस गगनचारी प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया अवश्यंभावी थी और प्रगतिवाद की काव्य-धारा मे यह प्रतिक्रिया स्पष्टतया परिलक्षित हो रही है।

प्रगतिवाद का दर्शन

प्रत्येक साहित्य-सरिता के अन्तःप्रदेश में दर्शन की सूक्ष्म अन्तर्धारा प्रवाहित होती रहती है। यद्यपि साहित्य दर्शन का मुखापेक्षी नहीं फिर भी वह अपने विकास की परमावस्था में स्वयं दर्शन हो जाता है और पहुँचे हुए दार्शनिक के हृदय में क्या कविता की गूँज नहीं सुनाई पड़ती ? जिस साहित्य का दार्शनिक आधार जितना ही ठोस रहता है उसका भाव-मदिर भी उतना ही स्थायी रहता है। हिंदी-साहित्य के स्वर्णयुग का दार्शनिक आधार रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत और वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैत है। कबीर और जायसी भी 'सोऽहं' और 'अनहलहक' के सूत्र पकड़े हुए थे। प्रगतिशील साहित्य का दार्शनिक आधार मार्क्सवाद है। मार्क्स का दार्शनिक सिद्धांत Dialectical Materialism यानी द्वन्द्वात्मक प्रधानवाद के नाम से विख्यात है। मार्क्स के इस दर्शन का आधार हीगेल के दार्शनिक सिद्धात हैं। हीगेल ने सृष्टि के मूल में तीन अवस्थाओ को माना है :—Thesis, Antithesis और Syn-

thesis अर्थात् वाद, प्रतिवाद और युक्त्वाद। प्रत्येक वाद में उसका विपरीत धर्म प्रतिवाद साथ ही लगा रहता है। वाद और प्रतिवाद के समन्वय से युक्तवाद की स्थापना होती है। भारतीय-दर्शन के अनुसार यदि हम ब्रह्म को वाद मानें तो माया प्रतिवाद होगी और ब्रह्म और माया के समन्वय से जगत् युक्त्वाद होगा। हीगेल ने सृष्टि के मूल में सत् और चित् दोनों की सत्ता मानी है। मार्क्स ने चेतन को हटा दिया और सत्, जड जगत् या मूल-प्रकृति (Matter) को ही मूल तत्त्व माना है। यह मूल-प्रकृति भारतीय दर्शन में प्रधान के नाम से पुकारी जाती है। मूल प्रकृति जब साम्यावस्था में रहती है तो परिस्थिति की अनुकूलता या प्रतिकूलता के कारण इसमें क्षोभ उत्पन्न होता है, और इसके रूप में परिवर्त्तन होता है। जल अपनी साम्यावस्था में है। सयोजक शक्ति की अनुकूलता के कारण इसमें क्षोभ उत्पन्न होता है और यह बर्फ में परिवर्तित होने लगता है, उसी प्रकार वियोजक शक्ति के कारण यह भाप में परिणत हो जाता है। परिवर्त्तन की इस प्रक्रिया को The changing of quantity into quality कहते हैं। प्रत्येक वस्तु में उसके विपरीत विनाशक धर्म के वर्तमान रहने के कारण उसके अन्दर एक द्वन्द्व चलता रहता है। मार्क्स के मतानुसार जड प्रकृति (Matter) में ही क्षोभ उत्पन्न होता है और फिर उससे स्वय चेतना उत्पन्न हो जाती है। इसीलिए मार्क्स का दर्शन द्वन्द्वात्मक प्रधानवाद कहा जाता है। भारतीय दर्शनों का उद्देश्य ही ससार से छुटकारा पाकर निर्वाण या मोक्ष की प्राप्ति है। पाश्चात्य दर्शन सत्य की खोज में परेशान रहता है। जीवन और जगत् की भिन्न-भिन्न व्याख्या करना, उनके आभ्यन्तर सूत्र का आविष्कार करना अभी तक दर्शन-शास्त्रों का उद्देश्य रहा है लेकिन मार्क्सवाद के सामने 'दुनिया को जानना' नहीं, बल्कि दुनिया को बदल डालने की समस्या है। मार्क्स-दर्शन विश्व का पुनर्निर्माण चाहता है। ससार के विकास में सबसे बड़ा रोड़ा पूंजीवाद है। ससार के आर्थिक वैषम्य को दूर कर साम्यवाद को रूपान्तरित करना इसका उद्देश्य है।

ईश्वर और धर्म की भावना, जो मनुष्य के लिये अफीम है, यदि प्रगति में बाधक सिद्ध हुई तो उसका भी मूलोच्छेद करना है। संसार से सर्वहारा वर्ग के शोषण को विदूरित कर वर्गहीन समाज का संस्थापन मार्क्सवाद का चरम उद्देश्य है।

प्रगतिवाद की विशेषताएँ

प्रगतिवाद के अनुसार समाज की तरह साहित्य का कोई शाश्वत, चिरतन, एकरस स्वरूप नहीं है। भाव या विचार-जगत् के पहले जड़-जगत् (Matter) वर्तमान था। निर्जीव पदार्थों में गतिशीलता उत्पन्न हुई और सजीव प्राणी उत्पन्न हुए। मानव क्रमिक विकास की परम्परा में इस रूप को प्राप्त कर सका है, और धीरे-धीरे ये ही शब्द भिन्न-भिन्न भावनाओं से परिपूर्ण हो गये। भाषा, भाव, भावनाभिव्यक्ति की कला सभी परिवर्तनशील हैं। आधुनिक हिन्दी भाषा भी तो वैदिक संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भिन्न-भिन्न अवस्थाओ को पार करती हुई यहां तक पहुँच सकी है। फिर इस रूप में भी परिवर्तन अवश्यंभावी है। जन्म-भूमि के प्रति भाव में भी क्रमिक विकास हुआ है। ग्राम से प्रांत, प्रात से देश और आज अखिल विश्व को अपनी मातृ-भूमि मानने में मानवता का कल्याण है। साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब है—समाज की भावनाओं का, क्रिया-प्रतिक्रिया का चित्रण इसमें पाया जाता है। गरीब समाज के लिए सत्य, सौंदर्य, प्रेम, आनन्द का नये सिरे से मूल्यांकन होना चाहिए। "नरों में नराधिप में हूँ" श्री कृष्ण के इस कथन की जांच होनी चाहिए। विज्ञान के कारण स्वर्ग, नरक, देवता आदि की सत्ता के प्रति हमारे विचार बदल रहे हैं। एक ओर किसानो, मजदूरो को चूसना और दूसरी ओर धर्मशाला बनवाने में, सदावर्त्त देने में अब पुण्य नहीं माना जाना चाहिए।

सभ्य शिष्ट औ सस्कृत लगते, मन को केवल कुत्सित।
धर्म-नीति औ सदाचार का मूल्याकन है जनहित॥

प्रगतिवाद की दृष्टि में काव्य नन्दन-कानन का कल्पित कल्पतरु नहीं है, बल्कि वह हमारी ही दुनिया का आम्रवृक्ष है, जो शिशिर और वसंत के स्पर्श से विषादित और आह्लादित हुआ करता है। साहित्य अमरावती में प्रवाहित होने वाली कोई पीयूष-धारा नहीं, बल्कि वह हमारे ही हिमालय से कल-कल स्वर करती हुई, हमारी ही धरती पर बहने वाली मंदाकिनी की शीतल-उष्णधारा है, जिसमें हमारे हृदय की आशाएँ-अभिलाषाएँ तरंगित होती रहती हैं। साहित्य स्वर्ग की सुर-सभा में निनादित होने वाली उर्वशी के तरल नूपुरों की मादक झंकार नहीं है, बल्कि वह हमारे ही प्राणों के पुलकित-वन में बजने वाली व्याकुल विपंची है जो सुख-दुख के तारों से झंकृत हुआ करती है। साहित्य इसी ठोस धरती की चीज़ है। साहित्य की यथार्थवादी, व्यावहारिक, व्याख्या होनी चाहिए, आदर्शवादी, अलौकिक परिभाषा नहीं।

साहित्य का आदर्शवादी दृष्टिकोण, धरती के क्रन्दन को अनसुनी करके विहग-बालिका के साथ गीत गाता हुआ गगनचारी हो जाता है। दिन के संघर्ष से जी चुराकर रात में विचरने वाले कवि 'निशिचर' नहीं तो क्या हैं? हमें ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जो हमें वास्तविक रूप से, सच्ची परिस्थिति से, परिचित कराए। अपनी दुर्दशा, गरीबी, पाखंड, यानी समाज के वीभत्स रूप को उघार कर हमारे सामने रखे। दुर्गन्ध, सड़ापन, बदबू जो कुछ हो समाज की आँखों के सामने स्पष्ट होना चाहिए। कोटि-कोटि नर-नारी जहाँ कीड़े की तरह जिन्दगी बिता देते हैं, वहाँ स्वर्ग के गान गाना अपने सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति उदासीन रहना है। जब हमारा घर-बाहर सभी जल रहा हो, उस अवसर पर नीरो के समान बीन बजाना हमारी पशुता का ही द्योतक है। प्रगतिवाद सामाजिक कुरूपता को बुर्के से ढकने के पक्ष में नहीं है—समाज का जैसा भी रूप क्यों न हो, उसे खोलकर दिखाना साहित्यिकों का कर्त्तव्य है। भगवतीचरण वर्मा की 'भैंसा गाड़ी' समाज के पद-दलित, तिरस्कृत प्राणी का कैसा चित्र है :—

"चाँदी के टुकडो को लेने, प्रतिदिन पिसकर भूखो मर कर
भैंसा गाडी लदा हुआ जा रहा चला मानव जर्जर।"

इसी प्रकार एक भिखमंगे का चित्र देखिए—

चिथडो में ले दुर्गंध कडी
रोगो से उसकी देह सडी
उनके मुख से है छूट रही
कलुपित वचनो की एक झडी।

इस प्रकार यथार्थवाद हमारी आँखों की खुमारी दूरकर कुछ सोचने के लिए वाध्य करता है, जिससे समाज का काया-कल्प हो सकता है। आदर्शवाद हमारी आँखें आकाश की ओर लगा देता है, जिससे खाई में गिरने का डर वरावर वना रहता है। स्वर्ग की ओर निहारने वाले कवियो से पत का यह कथन है—

ताक रहे हो गगन !
देखो भू को, जीव-प्रसू को
हरित भरित पल्लवित मर्मरित
कुञ्जित गुञ्जित कुसुमित भू को।

प्रगतिवाद अपने अतीत की व्याख्या दूसरे ही प्रकार से करना चाहता है। हमारा वर्तमान तो अतीत का ही प्रतिफल है। हमारे वर्तमान जीवन में अतीत की नीलिमा, भविष्य की लालिमा की झांकी मिलती रहती है। इसलिए अतीत के एकात निष्कासन से वर्तमान की व्याख्या नहीं हो सकती। भविष्य का मार्ग प्रशस्त करने के लिए हमें गत जीवन का, ऐतिहासिक तथ्यो का सिंहावलोकन करना ही पड़ेगा। लेकिन पूर्व गौरव, प्राचीन वैभव और वीरता पर गर्व करना अपना वक्त वर्वाद करना है। हमारा इतिहास सामंतशाही और पूंजीवादी सभ्यता का इतिहास है। एंक सम्राट् ही अपने देश की सारी प्रजा पर निष्कंटक राज्य करता था। राजा के निर्वाचन में प्रजा का कोई हाथ नहीं। सारा इतिहास ही अर्थ-लोलुपता और साम्राज्यलिप्सा की कहानी से भरा पड़ा है। अव नवीन

इतिहास की रचना हमें करनी है। प्रगतिवादी सपूर्ण इतिहास की व्याख्या आर्थिक दृष्टिकोण से हमारे सामने प्रस्तुत करता है। धर्म, सभ्यता, संस्कृति, साहित्य के मूल में इसी अर्थ का बडा भारी हाथ है। प्रगतिवाद प्रत्येक घटना के मूल में भौतिक सघर्ष के पाने की चेष्टा करता है।

प्रगतिवाद का सुधारवाद में, हृदय-परिवर्त्तन में विश्वास नहीं। वह क्रांति का पुजारी है। समाज के आमूल परिवर्त्तन के लिए क्राति की आवश्यकता है। सुधारवाद की कच्छप-चाल वाली गाडी से हमारा समाज आगे नहीं बढ़ सकता। सुधारवाद कुछ काल के लिए रोग को, घाव के मुंह को, वन्द कर सकता है, लेकिन इससे भीतर-ही-भीतर सडन पैदा होती है, और सारा शरीर ही विषाक्त हो जाता है। क्राति वह तेज नश्तर है जो ऑपरेशन द्वारा समाज के शरीर में नया प्राण फूंकना चाहती है। रूढ़ियाँ, अन्ध-विश्वास, पुरानी परम्पराएँ, सभी को भस्मसात् करना प्रगतिवादी साहित्य का उद्देश्य है। इसीलिए आधुनिक रचनाओं में महा-प्रलय, विनाश, विस्फोट, ताडव, अग्निकांड की लपटें विशेष दिखाई दे रही हैं। गांधीवाद हृदय-परिवर्त्तन, सुधारवाद पर विश्वास करता है, इसीलिए प्रगतिवाद का गाधीवाद से विरोध है। पन्त 'युगात' में जगत् के जीर्ण-पत्रों को द्रुत झर जाने के लिए कहता है, और क्रांति के अग्रदूत कोकिल से पावक-कण की प्रतीक्षा करता है :—

गा कोकिल, वरसा पावक-कण।
नष्ट-भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन।
पावक पग धर आवे नूतन।
हो पल्लवित नवल मानवपन।

अंग्रेजी की रोमांटिक कविता की तरह छायावादी कविता में कवि व्यक्तिगत सुख-दु:ख, आशा-निराशा, विशाद-उल्लास का चित्रण है। छाया युग में जिस वेदना का प्रकाड प्रदर्शन होता रहा, उसमें समाज के आँसू नहीं थे, समाज की आह नहीं थी। पन्त की 'भावी पत्नी' के दृगों में सायं-प्रात. भले ही झूल रहे हों, उसकी करुण भौंहों में भले ही

आकाश समाया हो, लेकिन जैनेन्द्र की 'पत्नी' कहानी-सी उसमें करुणा कहाँ है ? सोम-रस या आसव से कविजी की प्यास भले ही बुझ सकती है; किन्तु समाज के शिशु को तो गोरस की आवश्यकता है। कवि अपनी वैयक्तिक भावना को समाज के राग-विराग के साथ तदाकार कर दे— इसी में साहित्य का कल्याण है। समाज से भिन्न व्यक्ति की कोई खास सत्ता नहीं रह जाती। समाज-शरीर का व्यक्ति एक अङ्ग-मात्र है। इसीलिए संपूर्ण समाज के संरक्षण में अहर्निश चिंतित होना कवि का कर्त्तव्य है। सामाजिक संघर्ष में हँसते हुए वलि हो जाना कवियों का कर्त्तव्य है। अपने नैराश्य से समाज में अवसाद का प्रसार करना कवि को उचित नहीं। पत्नी की मृत्यु पर निशा को निमत्रण दे आना ठीक नहीं। समाज के अन्धकार को दूर करने के लिए कवि दीपक के समान जलता रहे—यही उसकी सार्थकता है। इस प्रकार प्रगतिवाद को जीवन के समष्टिवाद में विश्वास है, व्यष्टिवाद में नहीं।

प्रगतिवाद जब काव्यगत भावनाओं का नए सिरे से मूल्यांकन करना चाहता है, सत्य, सौंदर्य और प्रेम के नए मापदण्ड प्रस्तुत करना चाहता है, आदर्श राज की नई रूप-रेखा खींचना चाहता है, तो वह इन नूतन भावनाओं को अभिव्यंजित करने के लिए नूतन भाषा-शैली की भी अपेक्षा करता है। भाव और भाषा में अभिन्न सम्वन्ध है। भाव के अनुकूल ही भाषा गंभीर, हलकी, व्यंगात्मक, विनोदशील और ओजस्विनी हुआ करती है। स्पष्ट, यथार्थ एव वास्तविक विचारो की अभिव्यक्ति के लिए भाषा भी सरल और व्यावहारिक होनी चाहिए। उसमें हृदय-ग्राहिता, मर्म-स्पर्शिता रहनी चाहिए। वह विचारोत्तेजक हो, जो औरो को भी उसी प्रकार सोचने के लिए नहीं, वल्कि करने के लिए भी वाध्य करे। तुलसी की चौपाइयो में भक्ति की शीतल मंदाकिनी वहती रहती है। भूषण के कवित्त में वह ओज है जो तलवार को म्यान से खींच लेता है, हाथ आप-ही-आप मूछों पर ताव देने लगते हैं। छाया-युग की भाषा में भी वह शक्ति है जो हमारे सूक्ष्म-सुकुमार एवं रङ्गीन भावो को

कोमलता, शीतलता के साथ अभिव्यक्त करती हैं। प्रगतिवाद के लिए तितली के समान रगीन और कोमल भाषा-शैली की आवश्यकता नहीं। हमारी गरीबी और परवशता का चित्रण खरी-खोटी भाषा में ही हो। पन्त ने 'परिवर्त्तन' में समाज की दयनीय दशा का यह चित्र खींचा है—

आज शैशव का कोमल गात
जरा का पीला पात ....
शिशिर-सा झर नयनों का नीर
झुलस देता गालो के फूल
प्रणय का चुम्बन छोड अधीर
अधर जाता अधरो को भूल।

लेकिन शैली की अतिशय सुकुमारता के कारण हमारे हृदय में तदनुकूल प्रतिक्रिया उत्पन्न नहीं होती। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में भाषा सीधी और तगडी दीख पडती है। 'ग्राम्या' में एक बूढ़े का चित्र रुखडी-शैली में खींचा गया है —

खडा द्वार पर लाठी टेके वह जीवन का बूढा पजर
चिमटी उसकी सिकुडी चमडी, हिलते हड्डी के ढांचे पर
उसका लवा डील-डौल है, हट्टी-कट्टी काठी चौडी
इस खँडहर में बिजली-सी, उन्मत्त जवानी दौडी होगी।

यही है भाव के अनुकूल भाषा-शैली, शब्दच्छटा और पदविन्यास की योजना। निराला ने भी ठेठ भाषा की अकृत्रिम शैली में एक भिक्षुक का मार्मिक चित्र खींचा है—

"वह आता।
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।"

सामाजिक बन्धनों को छिन्न-भिन्न करने के लिए छन्द के वन्धन भी खुल जाने चाहिएं। यो तो छाया-युग में ही पिंगल का पराक्रम वहुत घट गया था, परन्तु इस युग में तो अत्यन्त स्वच्छन्द हो गये।

खुल गए छन्द के वध, प्रास के रजत पाश।
अब गीत मुक्त औ' युगवाणी बहती अयास।

भाषा-शैली और छन्दो में तो परिवर्त्तन चाहिए ही, साथ ही नवीन प्रतीको की स्थापना और प्रचलन होना चाहिए। जिस प्रकार एक चित्र बहुतेरी भावनाओ को अपने अन्दर समेटे रहता है, उसी प्रकार काव्य में प्रतीक भी एकाधिक भावनाओ का प्रतिनिधित्व करता है। 'झीनी चदरिया', 'चरखवा', 'नैहर', 'हस', 'पिंजड़े' आदि प्रतीकों द्वारा कबीर ने गंभीर-से-गंभीर भावो का सरलता और मार्मिकता के साथ वर्णन किया है। कमल, दीपक, चन्द्रमा, भ्रमर, क्रमश सौन्दर्य, साधना, उल्लास, प्रेम और मादकता के भावो को व्यक्त करते हैं। महादेवी ने 'दीप-शिखा' में अपने जीवन की सपूर्ण साधना को एकाकार कर दिया है। प्रगतिवाद का क्राति के अग्रदूत साहित्य का इन प्रेमात्मक प्रतीको से काम नहीं चल सकता। आजकल प्रगतिशील साहित्य में कुछ नवीन प्रतीको के दर्शन हो रहे हैं। जैसे—

मशाल—क्रान्ति की ज्योति-शिखा।
प्रलय—पुरानी रूढ़ियों के महानाश की कल्पना।
ताडव—क्रान्ति का खुलकर खेलना।
रक्त—त्याग, बलिदान, प्राण।
जोंक—शोषक महाजन।

प्रगतिवाद पर कुछ आक्षेप

प्रगतिवाद की नई किरण से बहुतो की आँखें चौंधिया गई हैं। इसके प्रखर प्रकाश में पोषकता की अपेक्षा दाहकता का अत्यधिक गुण देखकर इसकी काफी टीका-टिप्पणी हुई है।

(१) प्रगतिवाद का दार्शनिक आधार ही चैतन्य से शून्य जड़तावाद है। इसलिए इस साहित्य में, ईश्वर, आस्तिकता के प्रति कोई श्रद्धा नहीं। भारतीय सस्कृति की विशिष्टताओ से इसका कोई सरोकार नहीं।

ग्रौर कुत्ते में, कुंजर ग्रौर कीट में एक ही धड़कते हुए प्रेम-पूर्ण हृदय को पाकर ग्रानन्द-विभोर हो जाता है। ससार के सभी प्राणी उसकी श्रद्धा ग्रौर सहानुभूति की ग्रपेक्षा कर रहे हैं। तो ग्रालोचकों का ग्राक्षेप प्रगतिवाद के सच्चे काव्य के प्रति नहीं, बल्कि उसके साम्प्रदायिक रूप के प्रति है। कोई भी साहित्य साम्प्रदायिक रग में रंगकर किसी दल विशेष के गले की ग्रावाज़ बनकर कुछ काल के लिए उसका प्रचार (Propaganda) तो ग्रवश्य कर सकता है, परन्तु वह सहृदय के गले का हार नहीं हो सकता। युग-युग क्या वह दो दिन भी नहीं जी सकेगा। काव्य का ग्राधार दर्शन भले ही हो, परन्तु वह किसी खास दर्शन का प्रसार कर ग्रपना उपहास नहीं करता है। सूर ग्रौर तुलसी ने, मीरा ग्रौर महादेवी ने किसी 'वाद' का प्रचार नहीं किया है, बल्कि ग्रपने हृदय की वेदना ग्रौर उल्लास को ग्रपने इष्टदेव के सम्मुख सच्चाई के साथ निवेदित किया है। सच्चाई काव्य का कारण है।

✓ यमुना धार पर रोती हुई विधवा दिल्ली के दुःख-दर्द की ग्रवहेलना कर मास्को के गीत गाने वाले कवि 'गानेवाले' हो सकते हैं, कवि नहीं। मजहब के नाम पर पश्चिम के मुल्कों में तबाही ग्रौर बरबादी हुई। इसलिए देवता की भूमि भारतवर्ष में भी, धर्म के ग्रभ्युत्थान के लिए शरीर धारण करने वाले भगवान् की हँसी उड़ाने वाले कवि, काके में भरती न किये जाएँ तो ग्राश्चर्य ही है। जमींदारों ग्रौर पूंजीपतियो के खून से मजदूरो की फुलवारी सींचना बीभत्स कर्म है। जमींदारों ग्रौर किसान, मिल-मालिक ग्रौर मजदूर, दोनों परिस्थितियों के शिकार हैं। सच्चा प्रगतिवादी लेखक प्रेमचन्द की तरह 'गोदान' में दोनों का कल्याण चाहता है। रायसाहब ग्रौर होरी दोनो का उद्धार होना चाहिए। मार्क्स ग्रौर लेनिन के सिद्धान्तो को तोते की तरह रटकर काव्य में उन्हें दुहराते रहना कोई बहादुरी नहीं बल्कि बेवकूफी है। भारत की ग्रपनी सामाजिक-समस्या है ग्रौर इसे भारतीय ढग से सुलझाना है। 'कामरेड' से नाता जोडने के पहले हमें ग्रपने 'भाई' से गले मिलना है। ग्रपने उजड़े चमन

को छोड़कर औरो के महलों में 'चहकना' फूहड़पन है। बिना जाने-बूझे ही गांधीवाद की शव-परीक्षा करना, राम-राज्य की खिल्ली उड़ाना, अपने अनसयानेपन का परिचय देना है। इसलिए मार्क्सवाद का दीक्षित शिष्य, कम्यूनिज्म का कंठ-स्वर, यह साम्प्रदायिक प्रगतिवाद अंधानुकरण की चीज नहीं है। साहित्य में पददलित या सर्वहारा वर्ग के जीवन का चित्रण हो, समाज में समान रूप से सुख-शान्ति का संचार हो, प्रत्येक बिरवे को विकसित होने का मौका मिले, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' जीवन का मूल-मत्र है,—प्रगतिवाद की ये बातें किसे मान्य नहीं होंगी। और देखा जाय तो प्रगतिवाद की इन विशेषताओं से हमारा प्राचीन हिन्दी साहित्य अछूता नहीं बचा है।

वीर-गाथा काल की कविता राजा के मनोरंजन के साथ प्रजा में भी वीरता का संचार करती थी। वीर-काव्य में नूपुर और तलवार की मौलित झंकार सुनाई पडती है। भूषण की कविता ने विधर्मी और जुल्मी शासन के प्रति खुलकर बग़ावत की है। कबीर ने धार्मिक भेद-भाव, अध-विश्वास, छूआछूत के विरुद्ध आग उगली है, पंडितों और मुल्लाओ की 'सधुक्कड़ी भाषा' में ही सही, खूब खबर ली है।

अरे इन दोउन राह न पाई।
हिन्दू अपनी करे बडाई, गागर छुवन न देई।
वेश्या के पायन तर सोवे, यह देखो हिन्दुआई।
मुसलमान के पीर औलिया, मुर्गा मुर्गी खाई।
खाला केरी बेटी ब्याहैं, घरहिं में करें सगाई।

वेश्या के शरीर पर खासा मलमल देख कर और सतवंती नारी को गज-भर कपड़े के लिए भी आतुर देखकर, कबीर की आंखें भर आई हैं। समाज के आर्थिक और धार्मिक वैषम्य को समाज की ही व्यंगपूर्ण भाषा में निर्भीकता के साथ कह देने वाला कवि एक कबीर ही है। इतिहासकारो और दरबारियो ने सम्राट् अकबर के राज्य-शासन की प्रशसा भले ही की हो, लेकिन महाकवि तुलसीदास जी की दृष्टि में वह विशाल साम्राज्य

दु:ख, दारिद्रय और बेकारी से परिपूर्ण है। ब्रिटिश-राज्य की-सी दशा अकबर के समय में भी वर्त्तमान थी —

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,
वनिक को वानिज न, चाकर को न चाकरी
जीविका-विहीन लोग, सीधमान सोचवश
कहै, एक एकन सो, "कहाँ जाइ" "का करी"।

दीनता-दशानन ने दुनिया को दबा रखा है, अपने जबड़े के नीचे। तुलसीदासजी ने दरिद्रता का, पेट की ज्वाला का स्वयं अनुभव किया था। इसीलिए सैकड़ों वर्ष बाद भी इनकी भाषा में वही कसक और पीड़ा है।

हमारे गौरांग महाप्रभु के पदार्पण से भारतेन्दु-युग में दरिद्रता, बेकारी, अकाल, महँगी, टैक्स बेतरह बढ़ गई थी। यूनिवर्सिटी के ग्रेजुएटों की बेकारी की कल्पना तो वह पहले ही कर चुके थे—ब्रिटिश-राज के देवता पुलिसजी से वह भली-भाँति परिचित हो चुके थे :—

रूप दिखावत सर्वस लूटै, फंदे में जो पड़ै न छूटै।
कपट-कटारी हिय में हूलिस, कहु सखि साजन नहिं सखि पुलिस।

नील देवी, भारत-दुर्दशा आदि रचनाओं में भारतेन्दु ने भारत की दशा का अच्छी तरह चित्र खींच दिया है। भारतेन्दु के समकालीन प० प्रताप नारायण मिश्र ने 'तृप्यताम्' कविता में भारत की ग़रीबी, महामारी और मरी का बड़ा ही करुण चित्र उतारा है।

महँगी और टिकस के मारे, हमहिं छुधापीडित तन छाम।
साग-पात लौ मिलै न जिय भरि, लेबो वृथा दूध को नाम।
तुमहि कहा प्यावैं, जब हमरो कटत रहत गोवंश तमाम।
केवल सुमुखि अतक उपमा लहि, नागदेवता तृप्यताम्।
लैसन, इनकम, चुंगी, चंदा, पुलिस अदालत बरसा घाम।
सबके हाथन असन बसन, जीवन संसय मय रहत मुदाम।
जो इन हूँ ते प्रान बचै तो गोली बोलति आप धड़ाम।
मृत्यु देवता नमस्कार तुम, सब प्रकार बस तृप्यताम्।

'प्रगतिवाद' की मुहर के बिना ही ये कविताएँ कितनी प्रगतिशील हैं।

इस प्रकार संपूर्ण प्रगतिशील साहित्य के तीन रूप हमारे सामने दीख पड़ते हैं :—

(१) मार्क्सवाद पर आधारित साम्प्रदायिक रूप,

(२) राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं को चित्रित करने वाला सामयिक रूप एवं

(३) विश्व के सभी साहित्य में सामाजिक वैषम्य के प्रति विद्रोह का स्वर उठाने वाला सनातन रूप।

खुशी की बात है कि दिनों-दिन प्रगतिवाद का कट्टर साम्प्रदायिक स्वर मन्द पड रहा है और इसका विशुद्ध भारतीय रूप निखर रहा है। प्रगतिवाद के हिमायती समझौते के लिए भारतीय काव्य-परम्परा से हाथ मिला रहे हैं। प्रगतिशील साहित्य के लब्ध-प्रतिष्ठ समालोचकों की दृष्टि में कबीर और तुलसी के काव्य 'बहता पानी निर्मला' हैं। इसकी प्रमुख और प्रगतिशील धारा में समाज का मैल धुल जाता है। गोस्वामीजी ने भक्ति के प्रताप से तुच्छ, नीच पुरुष को भी महानता का अनुभव करा दिया। एक भक्त के सामने सम्राट् अकबर की सत्ता भी नगण्य है। रीतिकाल के कठघरे से कविता-कामिनी को मुक्त करने वाले, साहित्य में स्वतन्त्रता, उनमुक्त प्रकृति-सौन्दर्य और प्रेम का प्रचार करने वाले. हिन्दी के आधुनिक छायावादी कवि भी अब श्रद्धा की निगाह से देखे जा रहे हैं। संस्कृति का नाम सुनते ही. लाल कपड़े देखकर सांड की तरह चौंकने वाले विचित्र जीवो का अब अभाव हो रहा है। प्रगतिवाद में सरसता और कलात्मकता का संचार हो रहा है। भाषा का अहंकार, शब्दो का आडम्बर, प्रलय और अग्निकाण्ड की आवश्यक माँगें धीरे-धीरे टलती जाती हैं।

प्रगति हमारे जीवन की हो। प्रगति हमारे साहित्य की हो। हमारी सर्वतोमुखी प्रगति हो। कोल्हू के बैल की तरह एक ही वृत्त में घूमते रहने से हमारी प्रगति नहीं हो सकती। हिमालय के समान धरती में चरण रखते हुए, ऊपर उठते जाना, उज्ज्वलतर रूप धारण करते जाना—

हमारी सच्ची प्रगति है।

प्रगतिवादी काव्य का साम्प्रदायिक रूप, प्रचारक रूप तो अन्तिम घडियां गिन रहा है, लेकिन इसकी जिन कविताओं में मानव-हृदय की वेदना, जलन, आह और उल्लास का चित्रण है, वे कविताएँ अमर रहेंगी। प्रगतिवाद की अधिकांश रचनाएं इस युग की माँग हैं; समय में परिवर्तन होते ही, समाज में सुख-शान्ति का सचार होते ही ये सामयिक रचनाएँ अपना महत्त्व खो देंगी—तब इनका ऐतिहासिक महत्त्व होगा।

प्रगतिवाद का भविष्य, भविष्य के गर्भ में छिपा है। आधुनिक साहित्यकारों से प्रगतिवाद की यह अपील कितनी मार्मिक है :—

यह देख, पेट की आग देख।
इन डसे मुखो की झाग देख।
अपनी मा के रज से पैदा,
अपनी बेशर्मी से नगे,
तू ये डागर दो टाग देख।
फिर अपनी चिकनी माग देख।
ओ कलम-कुशल ! ओ व्यग्य प्राण !
जिसने देखा हिन्दुस्तान,
हरियाली में देखे हैं
जिसने भूखे सूखे किसान,
वह गाये कैसे प्रणय गान ?
मारो ठोकर नि श्वासो में,
अब आग लगा दो बाँसो में,
बेशर्म बाँसुरी बहुत बज चुकी, बहुत बज चुकी,
भारत की आरत पुकारती लाशों में
विगलित कल्पना विलासो में .
ओ धनी कलम के आँख खोल,
अब वर्तमान बन, सत्य बोल !

इस दुनिया की भाषा में कुछ घर की कह,
समझें घर वाले।
उनके जीवन की गाँठ खोल!
उनकी सूखी रोटियाँ तोल।
मत बन तू परदेशी घर में,
लेखनी-दधीची ले कर में,
लिख चुका बहुत तू काम-शास्त्र,
काले, अब काल-शास्त्र कुछ लिख,
हाँ जिला, और तू भी जी ले।
प्यारे, लेखनी सफल कर ले।

स्मृति-संकेत

१—प्रगतिवाद कविता को कल्पना लोक की नही प्रत्युत इसी धरती की चीज मानता है।

२—उसका दृष्टिकोण आदर्शवादी नही, यथार्थवादी है।

३—वह पुरातन तत्व को नष्ट कर नव निर्माण का पक्षपाति है।

४—वह वैयक्तिक अतरमुखता का विरोधी है।

५—वह पलायनवाद का भी विरोधी है।

६—वह शोषण व विषमता के विरुद्ध है।

७—जीवन को व्याख्या के लिये आर्थिक दृष्टिकोण को प्रमुखता देता है।

८—उसका सुधारवाद या हृदय परिवर्तन में विश्वास नही।

९—उसकी अपनी नई शैली है।

१०—वह स्पष्ट सरल अभिव्यक्ति का पक्षपाती है।

११—वह समाज व साहित्य दोनो के सब प्रकार के बंधनो को तोड देना चाहता है।

१२—उसने मशाल, जोक, ताण्डव आदि नई प्रतीको को अपनाया है।

उपन्यास का विषय



—प्रेमचन्द

उपन्यास का क्षेत्र, अपने विषय के लिहाज से, दूसरी ललित कलाओं से कहीं ज्यादा विस्तृत है। 'वाल्टर बेसेंट' ने इस विषय पर इन शब्दों में विचार प्रकट किये हैं—

'उपन्यास के विषय का विस्तार मानव-चरित्र से किसी कदर कम नहीं है। उसका सम्बन्ध अपने चरित्रों के कर्म और विचार, उनका देवत्व और पशुत्व, उनके उत्कर्ष और अपकर्ष से है। मनोभाव के विभिन्न रूप और भिन्न-भिन्न दशाओं में उनका विकास उपन्यास के मुख्य विषय हैं।'

इसी विषय-विस्तार ने उपन्यास को ससार-साहित्य का प्रधान अग बना दिया है। अगर आपको इतिहास से प्रेम है, तो आप अपने उपन्यास में गहरे-से-गहरे ऐतिहासिक तत्त्वो का निरूपण कर सकते हैं। अगर आपको दर्शन से रुचि है, तो आप उपन्यास में महान् दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन कर सकते हैं। अगर आप में कवित्व शक्ति है तो उपन्यास में उसके लिए भी काफी गुजाइश है। समाज, नीति, विज्ञान, पुरातत्त्व आदि सभी विषयों के लिए उपन्यास में स्थान है। यहाँ लेखक को अपनी कलम का जौहर दिखाने का जितना अवसर मिल सकता है, उतना साहित्य के और किसी अग में नहीं मिल सकता, लेकिन इसका यह आशय नहीं कि उपन्यासकार के लिए कोई बन्धन ही नहीं है। उपन्यास का विषय-विस्तार ही उपन्यासकार को बेडियों में जकड देता है। तग सडकों पर चलने वालों के लिए अपने लक्ष्य पर पहुँचना उतना कठिन नहीं है, जितना एक लम्बे-चौडे मार्गहीन मैदान में चलने वालों के लिए।

उपन्यासकार का प्रधान गुण उसकी सृजन-शक्ति है। अगर उसमें अभाव है, तो वह अपने काम में भी सफल नहीं हो सकता। उसमें और चाहे जितने अभाव हो; पर कल्पना-शक्ति की प्रखरता अनिवार्य है। अगर उसमें यह शक्ति मौजूद है तो वह ऐसे कितने ही दृश्यों, दशाओ और मनोभावो का चित्रण कर सकता है, जिनका उसे प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है। अगर इस शक्ति की कमी है, तो चाहे उसने कितना ही देशाटन क्यो न किया हो, वह कितना ही विद्वान् क्यो न हो, उसके अनुभव का क्षेत्र कितना ही विस्तृत क्यो न हो, उसकी रचना में सरसता नहीं आ सकती। ऐसे कितने ही लेखक हैं जिनमें मानव-चरित्र के रहस्यो का वहुत मनोरंजक, सूक्ष्म और प्रभाव डालने वाली शैली में वयान करने की शक्ति मौजूद है; लेकिन कल्पना की कमी के कारण वे अपने चरित्रो में जीवन का संचार नहीं कर सकते, जीती-जागती तसवीर नहीं खींच सकते। उनकी रचनाओं को पढ़कर हमें यह ख़याल नहीं होता कि हम कोई सच्ची घटना देख रहे हैं।

इसमें सदेह नहीं कि उपन्यास की रचना-शैली सजीव और प्रभावोत्पादक होनी चाहिए लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि हम शब्दो का गोरखधधा रचकर पाठक को इस भ्रम में डाल दें कि उसमें जरूर कोई-न-कोई गूढ आशय है। जिस तरह किसी आदमी का ठाठ-वाट देख कर हम उसकी वास्तविक स्थिति के विषय में गलत राय कायम कर लिया करते हैं, उसी तरह उपन्यासो के शाब्दिक आडम्बर देखकर भी हम खयाल करने लगते हैं कि कोई महत्त्व की वात छिपी हुई है। सम्भव है, ऐसे लेखक को थोड़ी देर के लिए यश मिल जाय किन्तु जनता उन्हीं उपन्यासो को आदर का स्थान देती है जिनकी विशेषता उनकी गूढ़ता नहीं, उनकी सरलता होती है।

उपन्यासकार को इसका अधिकार है कि वह अपनी कथा को घटना-वैचित्र्य से रोचक वनाये; लेकिन शर्त यह है कि प्रत्येक घटना असली ढांचे से निकट सम्वन्ध रखती हो। इतना ही नहीं, वल्कि उसमें इस तरह

घुल-मिल गई हो कि कथा का आवश्यक अंग बन जाय, अन्यथा उपन्यास की दशा उस घर-की-सी हो जायेगी जिसके हरएक हिस्से अलग-अलग हों। जब लेखक अपने मुख्य विषय से हटकर किसी दूसरे प्रश्न पर बहस करने लगता है, तो वह पाठक के उस आनन्द में बाधक हो जाता है जो उसे कथा में आ रहा था। उपन्यास में वही घटनाएँ, वही विचार लाने चाहिएँ जिनसे कथा का माधुर्य बढ़ जाय, जो प्लाट के विकास में सहायक हों अथवा चरित्रों के गुप्त मनोभावों का प्रदर्शन करते हों। पुरानी कथाओं में लेखक का उद्देश्य घटना-वैचित्र्य दिखाना होता था, इसलिए वह एक कथा में कई उपकथाएँ मिलाकर अपना उद्देश्य पूरा करता था। साम्प्रत-कालीन उपन्यासों में लेखक का उद्देश्य मनोभावों और चरित्र के रहस्यों का खोलना होता है; अतएव यह आवश्यक है कि वह अपने चरित्रों को सूक्ष्म दृष्टि से देखे, उसके चरित्रों का कोई भाग उसकी निगाह से न बचने पाये। ऐसे उपन्यास में उपकथाओं की गुंजाइश नहीं होती।

यह सच है कि संसार की प्रत्येक वस्तु उपन्यास का उपयुक्त विषय बन सकती है। प्रकृति का प्रत्येक रहस्य, मानव-जीवन का हरएक पहलू, जब किसी सुयोग्य लेखक की कलम से निकलता है तो वह साहित्य का रत्न बन जाता है, लेकिन इसके साथ ही विषय का महत्त्व और उसकी गहराई भी उपन्यास के सफल होने में बहुत सहायक होती है। यह जरूरी नहीं कि हमारे चरित्रनायक ऊँची श्रेणी के ही मनुष्य हों। हर्ष और शोक, प्रेम और अनुराग, ईर्ष्या और द्वेष मनुष्य-मात्र में व्यापक हैं। हमें केवल हृदय के उन तारों पर चोट लगानी चाहिए जिनकी झंकार से पाठकों के हृदय पर भी वैसा प्रभाव हो। सफल उपन्यासकार का सबसे बड़ा लक्षण है कि वह अपने पाठकों के हृदय में उन्हीं भावों को जागरित कर दे जो उसके पात्रों में हों। पाठक भूल जाय कि वह कोई उपन्यास पढ़ रहा है—उसके और पात्रों के बीच में आत्मीयता का भाव उत्पन्न हो जाय।

मनुष्य की सहानुभूति साधारण स्थिति में तब तक जागरित नहीं

होती जब तक कि उसके लिए उस पर विशेष रूप से आघात न किया जाय। हमारे हृदय के अन्तरतम भाव साधारण दशाओं में अन्दोलित नहीं होते। इसके लिए ऐसी घटनाओ की कल्पना करनी होती है जो हमारा दिल हिला दें, जो हमारे भावो की गहराई तक पहुँच जायें। अगर किसी अबला की पराधीन दशा का अनुभव करना हो तो इस घटना से ज्यादा प्रभाव डालने वाली और कौन घटना हो सकती है कि शकुन्तला राजा दुष्यन्त के दरबार में आकर खडी होती है और राजा उसे न पहचान कर उसकी उपेक्षा करता है? खेद है कि आजकल के उपन्यासो में गहरे भावों को स्पर्श करने का बहुत कम मसाला रहता है। अधिकाश उपन्यास गहरे और प्रचण्ड भावो का प्रदर्शन नहीं करते। हम आये-दिन की साधारण बातो में ही उलझकर रह जाते हैं।

इस विषय में अभी तक मतभेद है कि उपन्यास में मानवीय दुर्बलताओ और कुवासनाओं का, कमज़ोरियों और अपकीर्तियो का, विशद वर्णन वांछनीय है या नहीं, मगर इसमें कोई सन्देह नहीं कि जो लेखक अपने को इन्हीं विषयों में बांध लेता है, वह कभी उस कलाविद् की महानता को नहीं पा सकता जो जीवन-संग्राम में एक मनुष्य की आंतरिक दशा को, सत् और असत् के सघर्ष और अन्त में सत्य की विजय को, मार्मिक ढग से दर्शाता है। यथार्थवाद का यह आशय नहीं है कि हम अपनी दृष्टि को अन्धकार की ओर ही केन्द्रित कर दें। अन्धकार में मनुष्य को अन्धकार के सिवा और सूझ ही क्या सकता है? बेशक, चुटकियां लेना, यहाँ तक कि नश्तर लगाना भी कभी-कभी आवश्यक होता है; लेकिन दैहिक व्यथा चाहे नश्तर से दूर हो जाय, मानसिक व्यथा सहानुभूति और उदारता से ही शान्त हो सकती है। किसी को नीच समझ कर हम उसे ऊँचा नहीं बना सकते; बल्कि उसे और नीचे गिरा देंगे। कायर यह कहने से बहादुर न हो जायगा कि 'तुम कायर हो।' हमें यह दिखाना पड़ेगा कि उसमें साहस, बल और धैर्य—सब कुछ है, केवल उसे जगाने की ज़रूरत है। साहित्य का सम्बन्ध सत्य और सुन्दर से है, यह हमें न भूलना चाहिए।

मगर आजकल कुकर्म, हत्या, चोरी, डाके से भरे हुए उपन्यासों की जैसे बाढ़-सी आ गई है। साहित्य के इतिहास में ऐसा कोई समय न था जब ऐसे कुरुचिपूर्ण उपन्यासों की इतनी भरमार रही हो। जासूसी उपन्यासों में क्यों इतना आनन्द आता है? क्या इसका कारण यह है कि पहले से अब लोग ज्यादा पापासक्त हो गये हैं? जिस समय लोगों का यह दावा है, कि मानव-समाज नैतिक और बौद्धिक उन्नति के शिखर पहुँचा हुआ है, यह कौन स्वीकार करेगा कि हमारा समाज पतन की ओर जा रहा है? शायद, इसका यह कारण हो कि इस व्यावसायिक शांति के युग में ऐसी घटनाओ का अभाव हो गया है जो मनुष्य के कुतूहल-प्रेम को सतुष्ट कर सकें—जो उसमें सनसनी पैदा कर दें। या इसका यह कारण हो सकता है कि मनुष्य की धन-लिप्सा उपन्यासों के चरित्रों को धन के लोभ से कुकर्म करते देखकर प्रसन्न होती है। ऐसे उपन्यासों में यही तो होता है कि कोई आदमी लोभ-वश किसी धनाढ्य पुरुष की हत्या कर डालता है, या उसे किसी सकट में फंसाकर उससे मनमानी रकम ऐंठ लेता है। फिर जासूस आते हैं, वकील आते हैं और मुजरिम गिरफ्तार होता है, उसे सजा मिलती है। ऐसी रुचि को प्रेम, अनुराग या उत्सर्ग की कथाओं में आनन्द नहीं आ सकता। भारत में वह व्यावसायिक वृद्धि तो नहीं, लेकिन ऐसे उपन्यासों की भरमार शुरू हो गई। अगर मेरा अनुमान ग़लत नहीं है तो ऐसे उपन्यासों की खपत इस देश में भी अधिक होती है। इस कुरुचि का परिणाम रूसी उपन्यास-लेखक मैक्सिम गोर्की के शब्दों में ऐसे वातावरण का पैदा होना है, जो कुकर्म की प्रवृत्ति को दृढ़ करता है। इससे यह तो स्पष्ट ही है कि मनुष्य में पशु-वृतियां इतनी प्रबल होती जा रही हैं कि अब उसके हृदय में कोमल भावों के लिए स्थान ही नहीं रहा।

उपन्यासों के चरित्रों का चित्रण जितना ही स्पष्ट, गहरा और विकासपूर्ण होगा उतना ही पढ़ने वालों पर उसका असर पड़ेगा; और यह लेखक की रचनाशक्ति पर निर्भर है। जिस तरह किसी मनुष्य को देखते

ही हम उसके मनोभावों से परिचित नहीं हो जाते, ज्यों-ज्यो हमारी घनिष्ठता उससे बढती है, त्यों-त्यो उसके मनोरहस्य खुलते हैं, उसी तरह उपन्यास के चरित्र भी लेखक की कल्पना में पूर्ण रूप से नहीं आ जाते, बल्कि उनमें क्रमशः विकास होता जाता है। यह विकास इतने गुप्त-अस्पष्ट-रूप से होता है कि पढने वाले को किसी तब्दीली का ज्ञान भी नहीं होता। अगर चरित्रों में किसी का विकास रुक जाय तो उपन्यास से निकाल देना चाहिए, क्योंकि उपन्यास चरित्रो के विकास का ही विषय है। अगर उसमें विकासदोष है, तो वह उपन्यास कमजोर हो जायगा। कोई चरित्र अन्त में भी वैसा ही रहे जैसा वह पहले था—उसके बल-बुद्धि और भावो का विकास न हो, तो वह असफल चरित्र है।

इस दृष्टि से जब हम हिन्दी के वर्तमान उपन्यासों को देखते हैं तो निराशा होती है। अधिकांश चरित्र ऐसे ही मिलेंगे जो काम तो बहुतेरे करते हैं; लेकिन जैसे जो काम वे आदि में करते, उसी तरह वही अन्त में भी करते हैं।

कोई उपन्यास शुरू करने के लिए यदि हम उन चरित्रो का एक मानसिक चित्र बना लिया करें तो फिर उनका विकास दिखाने में हमें सरलता होगी। यह कहने की भी जरूरत नहीं है, विकास परिस्थिति के अनुसार स्वाभाविक हो, अर्थात् पाठक और लेखक दोनो इस विषय में सहमत हो। अगर पाठक का यह भाव हो कि इस दशा में ऐसा नहीं होना चाहिए था तो इसका यह आशय हो सकता है कि लेखक अपने चरित्र के अंकित करने में असफल रहा। चरित्रो में कुछ-न-कुछ विशेषता भी रहनी चाहिए। जिस तरह ससार में कोई दो व्यक्ति समान नहीं होते, उसी भांति उपन्यास में भी न होना चाहिए। कुछ लोग तो बातचीत या शक्ल-सूरत से विशेषता उत्पन्न कर देते हैं; लेकिन असली अन्तर तो वह है, जो चरित्रों में हो।

उपन्यास में वार्तालाप जितना अधिक हो और लेखक की कलम से जितना ही कम लिखा जाय, उतना ही उपन्यास सुन्दर होगा। वार्तालाप

केवल रस्मी नहीं होना चाहिए। प्रत्येक वाक्य को—जो किसी चरित्र के मुँह से निकले—उसके मनोभावों और चरित्र पर कुछ-न-कुछ प्रकाश डालना चाहिए। बातचीत का स्वाभाविक, परिस्थितियों के अनुकूल, सरल और सूक्ष्म होना जरूरी है। हमारे उपन्यासों में अक्सर बातचीत भी उसी शैली में कराई जाती है मानो लेखक खुद लिख रहा हो। शिक्षित समाज की भाषा तो सर्वत्र एक है; हाँ, भिन्न-भिन्न जातियों की जबान पर उसका रूप कुछ-न-कुछ बदल जाता है, बंगाली, मारवाड़ी और ऐंग्लो-इण्डियन भी कभी-कभी बहुत शुद्ध हिन्दी बोलते पाये जाते हैं, लेकिन यह अपवाद है, नियम नहीं पर ग्रामीण बातचीत हमें दुविधा में डाल देती है। बिहार की ग्रामीण भाषा शायद दिल्ली के आस-पास का आदमी समझ ही न सकेगा।

✓ वास्तव में कोई रचना रचयिता के मनोभावों का, उसके चरित्र का, उसके जीवनादर्श का, उसके दर्शन का आईना होती है। जिसके हृदय में देश की लगन है उसके चरित्र, घटनावली और परिस्थितियाँ सभी उसी रंग में रँगी हुई नजर आयेंगी। लहरी आनन्दी लेखकों के चरित्रों में भी अधिकांश चरित्र ऐसे ही होंगे जिन्हें जगत्-गति नहीं व्यापती। वे जासूसी, तिलिस्मी चीजें लिखा करते हैं। अगर लेखक आशावादी है तो उसकी रचना में आशावादिता छलकती रहेगी, अगर वह शोकवादी है तो बहुत प्रयत्न करने पर भी, वह अपने चरित्रों को जिन्दादिल न बना सकेगा। 'आजाद कथा' को उठा लीजिये, तुरत मालूम हो जायेगा कि लेखक हँसने-हँसाने वाला जीव है जो जीवन को गंभीर विचार के योग्य नहीं समझता। हाँ, जहाँ उसने समाज के प्रश्नों को उठाया है, वहाँ शैली शिथिल हो गई है।

जिस उपन्यास को समाप्त करने के बाद पाठक अपने अन्दर उत्कर्ष का अनुभव करे, उसके सद्भाव जाग उठें, वही सफल उपन्यास है। जिसके भाव गहरे हैं,—जो जीवन में बद्दू बनकर नहीं, बल्कि सवार बनकर चलता है, जो उद्योग करता है और विफल होता है, उठने की

कोशिश करता है और गिरता है, जो वास्तविक जीवन की गहराइयों में डूबा है, जिसने जिन्दगी के ऊँच-नीच देखे हैं, सम्पत्ति और विपत्ति का सामना किया है, जिसकी जिन्दगी मखमली गद्दो पर ही नहीं गुजरती, वही लेखक ऐसे उपन्यास रच सकता है जिसमें प्रकाश, जीवन और आनन्द प्रदान की सामर्थ्य होगी।

उपन्यास के पाठको की रुचि भी अब बदली जा रही है। अब उन्हे केवल लेखक की कल्पनाओ से सन्तोष नहीं होता। कल्पना कुछ भी हो, कल्पना ही है। वह यथार्थ का स्थान नहीं ले सकती। भविष्य उन्हीं उपन्यासो का है, जो अनुभूति पर खड़े हो।

इसका आशय यह है कि भविष्य में उपन्यास में कल्पना कम, सत्य अधिक होगा; हमारे चरित्र कल्पित न होंगे, बल्कि व्यक्तियों के जीवन पर आधारित होंगे। किसी हद तक तो अब भी ऐसा होता है; पर बहुधा हम परिस्थितियो का ऐसा क्रम बांधते हैं कि अन्त स्वाभाविक होने पर भी वह होता है जो हम चाहते हैं। हम स्वाभाविकता का स्वांग जितनी खूबसूरती से भर सकें, उतने ही सफल होते हैं; लेकिन भविष्य में पाठक इस स्वांग से सन्तुष्ट न होगा।

यो कहना चाहिए कि भावी उपन्यास जीवन-चरित्र होगा, चाहे किसी बड़े आदमी का या छोटे आदमी का। उसकी छुटाई-बडाई का फैसला उन कठिनाइयो से किया जायेगा कि जिन पर उसने विजय पाई है। हां वह चरित्र इस ढंग से लिखा जायगा कि उपन्यास मालूम हो। अभी हम झूठ को सच बनाकर दिखाना चाहते हैं, भविष्य में सच को झूठ बनाकर दिखाना होगा। किसी किसान का चरित्र हो, या किसी देश-भक्त का, या किसी बड़े आदमी का; पर उसका आधार यथार्थ पर होगा। तब यह काम उससे कठिन होगा जितना अब है; क्योकि ऐसे बहुत कम लोग हैं, जिन्हें बहुत-से मनुष्यो को भीतर से जानने का गौरव प्राप्त हो।

उपस्थित होंगी कि वह कल्पना-विहार का अवकाश ही नहीं पा सकेगा। उसका साहित्य भी वैसा ही होगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भौगोलिक कारण, जाति को विशेष रूप देने में बहुत-कुछ कारण बन जाते हैं, पर यही सब-कुछ नहीं है। भारतवर्ष में इस दृष्टि से देखने का सर्वाधिक विकृत रूप साम्प्रदायिक सभामचों के उपदेशकों के मुख से सुनाई देता है। जब वे भारतवर्ष की सती-साध्वियो में, यहाँ की धर्म-प्राण जनता में, यहाँ के धर्म पर कुर्बान होनेवाले धर्मवीरों में कुछ ऐसी विशेषता बताया करते हैं, जो यहीं है और कहीं हो ही नहीं सकती। इस दृष्टिकोण से जिन्होने भी दुनिया देखी है, उन्होंने मनुष्य की अपेक्षा उसकी रूढियों को अधिक देखा है। अब जबकि रूढ़ियाँ टूटने लगी है, भारत की सती-साध्वियों में कोई ऐसी विशेषता नहीं दीखती जो यूरोप की सती-साध्वियों में न हो। यहाँ की धर्मप्राण जनता कभी भी ऐसी हड़ताल नहीं करती, जो रूस या इङ्गलैण्ड के कारखाने में काम करनेवाली जनता ने न की हो।

रीतिकाल की रूढ़ियाँ जब बीसवीं शताब्दी के कवियों के अज्ञान, उपेक्षा और विरोध के कारण टूट गईं, तो हिन्दी में भी अंग्रेजी के 'रोमांटिक' कवियों का स्वर बेने सुनाई देने लगा। असहयोग आन्दोलन के बाद यह उत्तरोत्तर साफ होता गया। इन कवियों ने बाह्य जगत् को अपने अन्तर के योग में उपलब्ध किया, अपनी रुचि, कल्पना और सुख-दु ख में गूंथकर ससार को देखा, हिन्दी-कविता में सैकड़ों वर्ष से जिस वैयक्तिकता (Individuality) का प्रवेश नहीं हुआ था—जो भौगोलिक व्याख्या के अनुसार भारतीय मनीषी की विशेषता होनी चाहिये थी—वह एक ही धक्के में दरवाजा तोडकर सामने आ खडी हुई। पिछले पन्द्रह वर्षों में भारतीय कवि की वैयक्तिकता ही प्रधान प्रतिपाद्य काव्य-सामग्री रही है। पर लक्षणों से जान पडता है कि उसके भी दिन गिने जा चुके हैं। अब तक कवि चाहे कल्पना के द्वारा इस जगत् को विसदृशताओं से मुक्त एक मनोहर जगत् की सृष्टि कर रहा हो,

या चिन्ता द्वारा किसी अज्ञात रहस्य के भीतर प्रवेश करने की चेष्टा कर रहा हो, या अपनी अनुभूति के बल पर पाठक के वासनान्तर्विलीन मनोभावो को उत्तेजित कर रहा हो,—सर्वत्र उसकी वैयक्तिकता ही प्रधान हो उठती रही है। अत्यन्त आधुनिक कवि इस भावुकता को पसन्द नहीं करता। वह वस्तु को आत्म-निरपेक्ष भाव से देखने को ही सच्चा देखना मानता है। यह बात उसके निकट सत्य नहीं है कि वस्तु को उसने कैसा देखा, बल्कि यह कि वस्तु उसके बिना भी वैसी है। इस वैज्ञानिक चित्तवृत्ति का प्रधान आनन्द कौतूहल में है, उत्सुकता में है, आत्मीयता में नहीं। और जैसा कि इस विषय के पण्डितो ने बताया है, विश्व को व्यक्तिगत आसक्त भाव से न देखकर तद्‌गत और अनासक्त भाव से देखना ही आधुनिक दृष्टिकोण से जगत् को देखने का प्रयत्न किया है। यद्यपि इस दृष्टि का अधिक विनियोग आर्थिक परिस्थिति को समझने में किया गया है, या यों भी कहा जा सकता है कि समाज की वर्तमान परिस्थिति को आर्थिक दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न किया गया है, तथापि यही उसका वास्तविक स्वरूप नहीं है। हमारी विचार-धारा की वास्तविक नवीनता इस घात में नहीं है कि हमने संसार को व्यक्तिगत रुचि-अरुचि की दृष्टि से देखा है या आर्थिक दृष्टि से—वस्तुत. व्यक्तिगत दृष्टि और आर्थिक दृष्टि का विरोध नहीं भी हो सकता है—बल्कि यह कि हमने संसार को अपने सत्-असत् के सस्कारों की दृष्टि से नहीं, बल्कि इन सस्कारो से मुक्त बुद्धि के द्वारा देखने का प्रयास किया है। दोनो का अन्तर दोनो दृष्टिकोणो के विकास से समझा जा सकता है।

४ यह मानने में कोई सकोच नहीं होना चाहिये कि हमारी आधुनिक दृष्टि-भंगी यूरोपियन संसर्ग का फल है। इसके पहले हमारी दुनिया एक प्रकार से तय हो चुकी थी। हमारी सत्-असत् सम्बन्धी धारणाऐं हमेशा के लिए मानो स्थिर हो चुकी थीं। यूरोप में भी ऐसा ही एक युग था। परन्तु वैज्ञानिक आविष्कारो ने वहाँ के सोचनेवाले आदमियो के मस्तिष्क

में एक प्रकार की अशान्ति ला दी। किसी ने कहा है कि ज्योतिष का यह आविष्कार कि पृथ्वी समस्त ग्रह-नक्षत्र-मण्डल के केन्द्र में नहीं है, यूरोपियन मस्तिष्क के ऊपर सबसे पहली और सबसे जोरदार चोट थी। उसकी समस्त धार्मिक और आध्यात्मिक कल्पना, सारा पौराणिक विश्वास, समस्त रूढ़ियां इस चोट से तिलमिला गईं। विज्ञान प्रसारित होता गया, धर्म-विश्वास संकुचित। प्रत्येक वैज्ञानिक आविष्कार अठारहवीं शताब्दी में ईश्वर और धर्म को पीछे धकेलता गया, अन्त में उन्नीसवीं शताब्दी में ये दोनों वस्तुएं—'कहिये तो भिन्न-न-भिन्न—' सम्पूर्णतया पृष्ठ-भूमि में आ गईं। पर मनुष्य अपने-आप पर अत्यधिक विश्वास-परायण हो गया। उन्नीसवीं शताब्दी जिस प्रकार नास्तिकता-प्रधान युग है, उसी प्रकार आत्म-विश्वास-परायण भी। इस काल में सारे संसार में आदर्शवादियों का प्राधान्य था। आज भी जहां-कहीं बड़े-बड़े आदर्श-वादी दीख रहे हैं, वे उसी शताब्दी के भग्नावशेष हैं। इन आदर्श-वादियों ने संसार की वास्तविकता की तरफ नहीं ध्यान दिया, बल्कि अपना सारा ध्यान एक आदर्श दुनिया को गढ़ने में केन्द्रित रखा। जहां मनुष्य क्षुद्र स्वार्थ का शिकार न होकर सेवा का विधाता होगा, जहां धर्म मनुष्य का मार्ग-दर्शक न होकर मनुष्य द्वारा परिचालित होगा, वहां का सबसे बड़ा सत्य मनुष्य है। इस आदर्श के उन्नयन के साथ ही साथ आत्म-सापेक्ष दृष्टि अपने-आप अनजान में ही, प्राधान्य लाभ करती गई। अपनी भावनाओं के रंग में दुनिया को रंगकर देखने का अभ्यास बढ़ता गया। हिन्दी का वैयक्तिकता-प्रधान साहित्य उसी का अन्तिम प्ररोह था' पहले वह समाज-सुधार के क्षेत्र में दिखाई दिया और बाद में उसने अन्यान्य क्षेत्रों को भी बुरी तरह से आच्छादित कर लिया। न जाने किस अमूलदर्शी ने कविता में उसका नाम छायावाद चला दिया। परन्तु विचार की दुनिया में एक बार जो अशान्ति घुस गई थी वह फिर भी अशान्ति बनी रही। वैज्ञानिक अग्रगति ने बेचैनी बढ़ाने का ही कार्य किया। जीवन को देखने के दृष्टिकोण में फिर जबर्दस्त

परिवर्त्तन हुआ। मार्क्स और फ्रायड ने समाज और व्यक्ति को देखने का नया चश्मा दिया। समाज का जो अंश सर्वाधिक उपेक्षित रहा वह तेज़ी से प्रधान स्थान प्राप्त करता गया। व्यक्ति को समझने के लिये भी उसके चेतन मन की अपेक्षा अवचेतन मन को प्रधानता स्थापित हो गई। आदर्शवाद को इन दोनो बातो से चोट पहुँची। फ्रायड ने कहा कि मनुष्य वस्तुतः वैसा है जैसा कि वह स्पष्ट ही दीख रहा है, प्रत्युत वह वैसा है जैसा कि अपने को चेष्टापूर्वक नहीं दिखाना चाह रहा। चेतन के द्वारा नहीं, अवचेतन के द्वारा मनुष्य को पहचाना जा सकता है। इस प्रकार मनुष्य के समस्त काव्य, समस्त कला, समस्त धर्माचरण एक नये रूप में प्रकट हुए। हम अपने को जैसा समझ रहे हैं, वैसे नहीं हैं; हम दुनिया को जैसा देख रहे हैं, वस्तुतः वह वैसी नहीं है। फिर समाज के जितने सदाचार हैं, जितने क़ायदे-कानून हैं, जो कुछ नैतिकता-विधान हैं, सब वस्तुतः वैसे नहीं हैं। मार्क्स ने कहा कि इन विधानों का कारण कोई वास्तव सत्य नहीं है बल्कि आर्थिक परिस्थिति है। दोनो दृष्टियों से आपाततः साधु दृश्यमान आदर्शवाद थोथा ही दीखने लगा। इस प्रकार मानवीय चिन्ता दूसरी बार अपने सस्कारो को झाड़कर देखने का प्रयास करने लगी। काव्य को, समाज को, धर्म को, राजनीति को—सबको उसने तद्गत और अनासक्त भाव से देखने का प्रयास किया। पहली चिन्ता में व्यक्ति प्रधान था, इसमें वह गौण हो गया। पहली में द्रष्टा प्रधान था, दूसरी में दृश्य प्रधान हो गया। पहली का दृष्य द्रष्टा के मन से विमुक्त होकर सामने आता था, दूसरी का द्रष्टा दृश्य के पीछे छिप जाता है। यही नया दृष्टिकोण है। इस दृष्टि से जैसा कि एक रूसी आलोचक ने हाल ही में कहा है, अब तक कलाकार की वैयत्तिकता के प्रकाशन में, रीति-ग्रन्थो मे, निजी कल्पनाओं में और रूपहीन (abstract) चिन्ताओ मे कला का बाँझपन ही प्रकट हुआ है। और जैसा कि मैंने अन्यत्र कहा था, दो कारणो से इस कविता की भाषा और शैली में भी परिवर्त्तन हुआ है। एक तो विषय

को जब अनासक्त और तद्गत भाव से देखा जाता है, तब स्वभायत ही भावुकता को स्थान नहीं रह जाता। ऐसी अवस्था में कवि वैज्ञानिक-जैसी गद्यमय भाषा लिखता है। दूसरे विषय की नवीनता को सम्पूर्ण रूप से अनुभव कराने के लिये वह जान-बूझकर ऐसी भाषा और शैली का व्यवहार करता है जो पाठक के मन को इस प्रकार झकझोर दे कि उस पर से प्राचीनता के सस्कार झड जायें। वे ऐसी उपमाओं, ऐसे रूपकों और ऐसी वक्रोक्तियों का व्यवहार करते हैं जो केवल नवीन ही नहीं अद्भुत भी जंचें। ऐसे काव्य में मेंढक और कुकुरमुत्ते केवल इसलिये व्यवहृत हो सकते हैं कि पाठक के चित्त को जोर से झकझोर दें, यद्यपि उसका अन्तर्निहित तत्त्व यह भी हो सकता है कि समुद्र और सूर्य अपनी महत्ता में जितने सत्य हैं उतने ही सत्य मेंढक और कुकुरमुत्ते भी हैं। जब तक द्रष्टा अपनी रुचि-अरुचि से सान कर दृष्टि को देखेगा तब तक वह इस महत्ता का अनुभव नहीं कर सकेगा।

परन्तु इस दृष्टिकोण का वहुत ही व्यापक प्रभाव स्वय दृश्य या द्रष्टव्य पर पड़ा है। अब तक काव्य, साहित्य, नृत्य आदि ललित और घनात्मक कलाएँ अपने-आप में अध्येतव्य थीं। अन्यान्य ज्ञान-विज्ञान के साधन से हम इन्हें समझने का प्रयत्न करते थे। अब समझा जाने लगा है कि वस्तुत. ये स्वय अध्येतव्य विषय नहीं हैं, ये साध्य भी नहीं हैं, ये साधन हैं। इनके द्वारा हम किसी और को समझ सकते हैं। पदार्थ-विज्ञान और भूगर्भ-विद्या की भाँति ये भी अपने आप में सपूर्ण नहीं हैं। फिर वह साध्य वस्तु क्या है, जिसकी साधना के लिये काव्य, नाटक और नृत्य-चित्र-मूर्ति-कलाएँ साधन हैं? वह जीवन को समझने के लिए ही यह सारा टेटा है। जीवन जिसकी उद्दाम लहरें नाना स्तरों मे प्रवाहित होकर किसी अज्ञात दिशा की ओर भागी जा रही हैं। 'अपारे काव्य-ससारे' का प्रजापति कवि उन सैकड़ों स्तरों में से एक स्तर है, जिसके रूप में जीवन-महासमुद्र की तरगें प्रकट हो रही हैं। उससे हम समुद्र की गम्भीरता और उसके विस्तार की खोज पा सकते हैं, वह स्वय ज्ञातव्य,

गाम्भीर्य या विस्तार नहीं है। विश्व उस प्रकार गठित नहीं हो रहा है, जैसा कवि को रुचता है, बल्कि विश्व को जैसा रुचता है वह वैसा ही उसके भीतर प्रतिफलित हो रहा है।

स्मृति-संकेत

१—आज वैज्ञानिक सार्वदेशिक दृष्टिकोण के कारण एकदेशी कल्पनाएं छूटती जा रही हैं।

२—आचार-विचार और साहित्य के भेद का कारण भौगोलिक विषमताएं मानी जाती थी पर वर्तमान में ऐसा नही माना जाता।

३—पहले यह समझा जाता था कि धार्मिकता और सत्यता आदि का ठेकेदार भारत ही है पर वर्तमान में इन भावनाओ को सार्वदेशिक माना जाता है।

४—कुछ वर्ष पहले तक वैयक्तिक, रोमाटिक छायावादी कविताओ का बोलबाला था पर अब व्यक्तित्व निरपेक्ष अनासक्ति भाव से प्रत्येक वस्तु को देखने की भावना बलवती होती जा रही है।

५—आज मानवता को ही सबसे बडा आदर्श माना जाने लगा है।

६—आज जीवन को मार्क्सवादी आर्थिक और फ्रायड के अपूर्ण काम-वासना के सिद्धान्त के आधार पर परखा जाने लगा है।

७—पद्य की भाषा गद्यवत् तथा मेंढक और कुकुरमुत्ते आदि नई उपमाएँ और नये प्रतीक साहित्य में चल निकले हैं।

८—साहित्य-कला आदि जो पहले साध्य समझी जाती थी अब जीवन को समझने का साधन मानी जाने लगी है। इस प्रकार साहित्यिक जगत् में नवीन दृष्टिकोण का उन्मेष हो रहा है।

साहित्य के मूल्य



—गुलाबराय, एम ए.

साधारण बोलचाल की भाषा में मूल्य शब्द का सम्बन्ध मोल-भाव या क्रय-विक्रय की मनोवृत्ति से है। उस शब्द के सुनते ही वर्तुलाकार रजतखण्डों का जिनका प्रत्यक्ष दर्शन आजकल कुछ दुर्लभ हो गया है या उनके प्रतीक-स्वरूप पत्र-मुद्राओं का आकर्षक रूप सामने आ जाता है। अंग्रेजी भाषा में 'वैल्यू' शब्द का अर्थ हिन्दी की अपेक्षा अधिक व्यापक हो गया है किन्तु वहाँ भी वह आर्थिक व्यञ्जना से निर्मुक्त नहीं हुआ है, और शायद इसी कारण वे विशुद्ध कलावादी, जो कला को सब मूल्यों से परे मानते हैं, साहित्य के साथ मूल्य शब्द जुड़ा हुआ देखकर चौंक उठते हैं और कभी-कभी प्रभु ईसा-मसीह से आवेश में आकर कहने लगते हैं कि तुम लोगो ने साहित्य-जैसे पावन देव-मन्दिर को क्रय-विक्रय की हाट बनाकर रक्खा है। शायद ऐसी ही आपत्तियों से बचने के लिए भारतीय समीक्षा-शास्त्र में 'प्रयोजन' शब्द का व्यवहार हुआ है। प्रयोजन शब्द यद्यपि पर्याप्तरूपेण विस्तृत है और आर्थिक व्यञ्जना से मुक्त भी है तथापि वह मूल्य का ही आन्तरिक रूप है। मूल्य वस्तु के निर्माण के पश्चात् मिलता है। निर्माण से पूर्व वही लक्ष्य-रूप से प्रयोजन कहलाता है। कलावादी तो मूल्य और प्रयोजन दोनो के ही विरोधी हैं।

ऐसे कलावादियों के क्षोभ की निवृत्ति के अर्थ हमको मूल्य शब्द के अर्थ पर विचार कर लेना आवश्यक हो जाता है। साधारणतया हम

उसी वस्तु को मूल्यवान् कहते हैं जो या तो सीधे तौर से हमारे उपयोग में आ सके या हमारे लिए उपयोग की वस्तुओ को जुटा सके या भविष्य में जुटा सकने की सामर्थ्य रक्खे। धन से मूल्य का प्रमुख रूप इसीलिए माना गया है कि उसके द्वारा हमको बहुत-सी उपयोगी वस्तुएँ प्राप्त हो सकती हैं। हम उपयोगी उसी वस्तु को कहते हैं जो हमारी किसी आवश्यकता की पूर्ति कर सके। कूड़ा-कर्कट जब हमारी किसी आवश्यकता की पूर्ति नहीं करता तो अनुपयोगी समझा जाकर फेंक दिया जाता है; किन्तु वही जब खाद बनकर हमारे उद्यान के फूलो या गोभी-टमाटर के उत्पादन तथा उनकी पुष्टि और आकार-वृद्धि में सहायक होता है तब हमारी एक आवश्यकता की पूर्ति के कारण उपयोगी और मूल्यवान् बन जाता है। आवश्यकताएँ केवल भौतिक जगत् में वही सीमित नहीं रहतीं, वे मानसिक और आध्यात्मिक भी हो सकती हैं। जो वस्तुएँ इन आवश्यकताओ की पूर्ति करती हैं वे उपयोगी और मूल्यवान् कहलाती हैं।

कलावादियो की कला भी जो उपयोगिता की अपावन गन्ध से परे समझी जाती है अपनी सौन्दर्य-जन्य प्रसन्नता देने की शक्ति और क्षमता के कारण उपयोगी कही जा सकती है। संगीत भी क्लान्त मन को विश्रान्ति देने के कारण उपयोगिता के क्षेत्र के बाहर नहीं। देश-सेवक अपने आदर्शों की पूर्ति के लिए प्राणों की भी आहुति देने में आना-कानी नहीं करता; उसके लिए वे आदर्श ही मूल्यवान् हैं, क्योंकि उनकी पूर्ति में उसकी विस्तृत आत्मा को परितुष्टि होती है। एक धार्मिक व्यक्ति घर-बार की चिन्ताओं को छोड़कर हरिभजन में मग्न रहता है, क्योंकि वह उसे अपने प्रियतम से मिलन का साधन समझता है। राजरानी मीरा ने अपने प्रभु गिरिधर-नागर के लिए राजवैभव, लोक-लाज और कुल-मर्यादा को तिलाञ्जलि देना ही श्रेयस्कर और मूल्यवान् समझा था, क्योंकि उससे उसके आध्यात्मिक भाव की तुष्टि होती थी। कोई श्रद्धालु भक्त मासिक 'कल्याण' के लिए डाकिये की अधीर प्रतीक्षा करते हैं, और कोई व्यसनप्रिय-सज्जन टाइम्स ऑव इण्डिया के क्रॉस वर्ड

पब्लिस के लिए न्यूज़-एजेण्ट की दूकान के दिन में दस बार चक्कर लगाते हैं क्योंकि उन वस्तुओं द्वारा उनकी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति होती है।

अब प्रश्न यह होता है कि ये मूल्य भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की रुचि-वैचित्र्य के कारण सापेक्षित हैं या निरपेक्ष। मूल्यों के सम्बन्ध में भी कुछ सापेक्षता अवश्य है किन्तु मनुष्य का ज़रा निकटतर अध्ययन करने से इन आवश्यकताओं के मोटे-मोटे भेदों का पता चल जायगा।

मनुष्य भौतिक पदार्थों की भाँति जड़ नियमों के बन्धन में रहता है। यद्यपि उसने अपनी वैज्ञानिक बुद्धि के बल पर उन नियमों पर बहुत अंशों में विजय प्राप्त कर ली है तथापि वह उनकी नितान्त अवहेलना नहीं कर सकता। मानवी बुद्धि की चरम सफलता के द्योतक वायुयान भी अचल होकर गगन-मण्डल में स्थित नहीं रह सकते। शीतोष्ण और क्षुत्पिपासा आदि आवश्यकताओं से भी वह अपना पल्ला नहीं छुड़ा सका। मनुष्य सत् होने के नाते मिट्टी के ढेले की भाँति प्राकृतिक नियमों में बँधा हुआ है और सजीव होने के नाते आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि प्राणिशास्त्र-सम्बन्धी आवश्यकताओं में पशुओं का समानधर्मी है। अन्तर केवल इतना ही है कि मनुष्य की इन सब बातों में कुछ मानसिक पक्ष भी लगा रहता है और इस कारण उसका आनन्द भी बढ़ जाता है। पेट तो होटल में भी भर जाता है, किन्तु प्रेम से परोसे हुए भोजन में कुछ सरसता, तुष्टि और शायद पुष्टि भी अधिक बढ़ जाती है। इसी कारण परम विरक्त गोस्वामी तुलसीदास जी को विनयपत्रिका में राम-नाम के सम्बन्ध में "सुखद अपनो सो घरु है" कहना पड़ता था। यहाँ तक तो मनुष्य के अन्नमय और प्राणमय कोषों की बात रही, उसका मनोमय कोष इन दोनों से ऊँचा है। इसका सम्बन्ध उसके मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार से है। उसकी एषणाएँ, अभिलाषाएं, महत्त्वाकांक्षाएँ सब इसी से सम्बन्धित हैं। इस प्रकार उसकी भौतिक और प्राण-सम्बन्धी आवश्यकताओं के अतिरिक्त उसकी मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएं भी हैं।

यही आवश्यकताएँ उसके व्यक्तित्व की पोषिका वन जाती हैं। वे उसकी अहंभावना को तुष्ट करती हैं। किन्तु मनुष्य में जहां व्यक्तित्व का पार्थक्य है वहां उसकी आत्मा उसको व्यक्तित्व की तुच्छ सीमाओ से ऊपर उठाती है। उसकी सामाजिकता इसी का फल है। इसी के कारण वह आचार और नीति के घेरे में आता है, यही प्रवृत्ति अनेकता में एकता स्थापित करती है। यूरोप के लोगो ने इस एकता को सामाजिक प्रवृत्ति का व्यावहारिक आधार माना है। भारतीय मनीषियो ने इस एकता की प्रवृत्ति को आध्यात्मिक आधार माना है और उसका सम्बन्ध विज्ञानमय कोष से स्थापित किया है। उसी आधार पर भारतीय एकात्मवाद की प्रतिष्ठा हुई। कुछ पाश्चात्य दार्शनिको ने भी 'सुपर-ईगो' अर्थात् पर-आत्मा माना है। आनन्दमय कोष इससे भी ऊँचा है। उसमें ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय की त्रिपुटी की एकता हो जाती है। कला अपने चरम विकास में इसी ध्येय की ओर अग्रसर होती है। इसीलिए रस को काव्य की आत्मा माना है और उसे ब्रह्मानन्द सहोदर कहा है।

आप शायद इस ऊब दिलाने वाले मनुष्य के विश्लेषण को सुनने से थक गये होंगे और कहेंगे कि साहित्य की परिषद् में यह बेसुरा दार्शनिक राग क्यों छेड़ा गया। साहित्य मुखरित जीवन है, जीवन का ही आत्म-चिन्तन है। जीवन की आवश्यकताओ को भूलकर हम साहित्य का चिन्तन नहीं कर सकते। हमारे यहां का साहित्य शब्द 'लिटरेचर' से कुछ अधिक व्यञ्जना रखता है। साहित्य में 'सहित' : 'इकट्ठे' होने वा समन्वय का भाव लगा हुआ है—'सह एव सहित तस्य भाव. साहित्यम्।' दूसरी व्युत्पत्ति है 'हितेन सह सहितं तस्य भाव. साहित्यम्।' साहित्य की इन्हीं दोनों व्युत्पत्तियों से हम को इन मूल्यो के प्रश्न को हल करने में सहायता मिलेगी। यह वात तो सभी मानेंगे कि जिसका जीवन में मूल्य है उसका साहित्य में भी मूल्य है। साहित्य के मूल्य जीवन के मूल्यो से भिन्न नहीं। अव प्रश्न यह होता है कि इनमें कोई सर्वप्रधान है कि जिसमें हाथी के पैर के समान सब के पैर आ जायें अथवा सब

एक-सा महत्त्व रखते हैं और देवताओं के समान कोई छोटा-बड़ा नहीं ? यह प्रश्न टेढ़ा है। सब लोग अपने-अपने पक्ष को महत्ता देकर अपनी-अपनी ढपली पर अपना-अपना राग अलापते हैं। 'भिन्न रुचिहि लोक' की बात इस समस्या को और भी जटिल बना देती है। सब मनुष्यो को एक लाठी से हम हांक भी नहीं सकते। कुछ लोग तो प्रगतिवादियों के साथ यह कहेंगे कि 'भूखे भजन न होय गुपाला' और कुछ बिहारी के साथ कहेंगे "तंत्रीनाद कवित्त रस सरस राग रतिरग, अनबूढ़े बूढे, तिरे जे बूढ़े सब अङ्ग।" मनोविज्ञान ने भी 'इन्ट्रोवर्ट' (अन्तर्मुखी) और 'एक्स्ट्रोवर्ट' (बहिर्मुखी) दो प्रकार के टाइप माने हैं। छायावादी शायद इन्ट्रोवर्ट कहलायेंगे और प्रगतिवादी एक्स्ट्रोवर्ट के अन्तर्गत आते हैं। ये दोनों टाइप किसी अश में एक-दूसरे को प्रभावित कर सकते हैं, परिवर्तित नहीं कर सकते। व्यक्तियों की व्यक्ति-सम्बन्धी और टाइप-सम्बन्धी विशेषताओं को ध्यान में रखकर अब यह ध्यान रखना चाहिए कि साहित्य के लिए भौतिक (प्राण-सम्बन्धी आवश्यकताएँ भी इसमें शामिल हैं) भावात्मक, बौद्धिक, सामाजिक (इनमें हम नैतिक आवश्यकताओं को भी शामिल करते हैं) और आध्यात्मिक आवश्यकताओ में किसी एक को प्राधान्य देना चाहिए या सब को। हमारे यहां जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के चार पुरुषार्थ माने गये हैं उनका भी इन्हीं मूल्यों से सम्बन्ध है। धर्म में सामाजिक और नैतिक मूल्य आ जाते हैं, अर्थ का सम्बन्ध भौतिक मूल्यो से है, काम में सौन्दर्य और कला-सम्बन्धी सभी मूल्य सम्मिलित हैं, और मोक्ष में आध्यात्मिक मूल्य आ जाते हैं। यद्यपि ये सभी मूल्य अपना महत्त्व रखते हैं तथापि इनमें से किसी एक की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। मोक्ष को चाहे हम थोड़ी देर के लिए वालाए-ताक रख दें, किन्तु इन तीन को हम नहीं छोड़ सकते और करीब-करीब तीनों का बराबर महत्त्व है। किसी एक को भी प्राधान्य देना जीवन का सन्तुलन बिगाड़ना होगा। मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी ने अपने भाई भरत जी को प्रश्नों द्वारा नीति का उपदेश देते हुए

पूछा था कि कहीं अर्थ से धर्म या धर्म से अर्थ में तो वाधा नहीं पड़ती अथवा काम से धर्म और अर्थ में वाधा तो नहीं पड़ती ?

कच्चिदर्थेन वा धर्ममर्थं धर्मेण वा पुन. ।
उभौ वा प्रीतिलोभेन कामेन न विवाधसे ।।

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी ने भरतजी को अपने जीवन में धर्म, अर्थ, काम तीनो ही के समन्वय का उपदेश दिया था। यही समन्वय-दृष्टि भारतीय दृष्टि है। हमारे यहाँ के काव्य-समीक्षको ने आनन्द में सव मूल्यो का समन्वय किया है। वे लोग यश और अर्थ के भौतिक उद्देश्यो से चल-कर पर-निर्वृत्ति के आध्यात्मिक लक्ष्य तक गये हैं।

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्य परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ।।

भामह ने भी काव्य को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का साधक और कला में नैपुण्य उत्पन्न करने वाला तथा प्रीति और कीर्ति की प्राप्ति कराने वाला वतलाया है—

धर्मार्थकाममोक्षाणां वैचक्षण्यं कलासु च ।
प्रीति करोति कीर्ति च साधु काव्यनिवन्धनम् ।।

आध्यात्मिक मूल्य भौतिक मूल्यो से ऊँचे अवश्य हैं, किन्तु उनकी उपेक्षा नहीं करते। भौतिक सोपानों द्वारा ही आध्यात्मिक की प्राप्ति होती है।

साहित्य का मूल्यांकन भी हम इसी व्यापक दृष्टिकोण से कर सकते हैं। जो साहित्य हमको इन धर्म (नीति, आचार और आध्यात्मिक मान), अर्थ (भौतिक और शारीरिक मान) और काम (एषणाएँ, महत्वाकांक्षाएँ कला और सौन्दर्य-सम्बन्धी मान) इन तीनो प्रकार के मानों के अथवा मूल्यों के समन्वय की ओर ले जाता है, वही सत्साहित्य है। साहित्य का अर्थ भी सहित का भाव है जो समन्वय-दृष्टि-प्रधान है। आचार्य कुंतक ने शब्द के शब्दोत्तर के साथ और वाच्य के वाच्या-तर के साथ मेल को ही साहित्य कहा है :—

"सहितौ इत्यत्रापि यथायुक्ति स्वजातीयापेक्षया शब्दस्य शब्दान्तरेण वाच्यस्य वाच्यान्तरेण च साहित्य परस्परस्पर्द्धित्व-लक्षणमेव विवक्षितम् ।"

कुन्तक ने शब्द और अर्थ दोनों को ही महत्व दिया है। यथा—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रौ कविव्यापारशालिनौ ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्य तद्विदाह्लादकारिणौ ।।

इसलिए वक्रोक्तिवाद का कोरे अभिव्यञ्जनावाद से तादात्म्य करना उचित नहीं ठहरता। साहित्य की दूसरी व्युत्पत्ति है, 'हितेन सह सहित तस्य भाव. साहित्यम् ।' साहित्य के दोनों ही अर्थ हमको समन्वयभाव और लोक-मगल की ओर ले जाते हैं। जो साहित्य मनुष्य-जीवन में उसकी सभी वृत्तियो और जीवन के सभी स्तरों में साम्य की ओर ले जाता है, वही हमारे लिए मान्य होगा। इस साहित्य को चाहे प्रगतिवाद कहें, चाहे छायावाद और चाहे समन्वयवाद।

प्रगतिवाद ने आर्थिक मूल्यो को प्रधानता दी है। वह अन्य मूल्यो की यदि उपेक्षा करता तो वह एकाङ्गी ठहरकर इस आदर्श से गिर जाता है। छायावाद मनुष्य की कला-सम्बन्धी प्रवृत्तियों का पोषण करता है, वह शब्द-सौन्दर्य पर भी अधिक बल देता है। किन्तु वह भी आर्थिक मूल्यो की उपेक्षा नहीं कर सकता। आजकल के छायावादी प्रायः सभी इन आर्थिक मूल्यो की ओर सचेत होते जाते हैं। कला-सम्बन्धी मूल्य अथवा नगेन्द्र जी के शब्दों में छायावाद का वायवी सौन्दर्य मूर्त-सौन्दर्य को पूर्णता प्रदान करता है। स्वय सौन्दर्य भी एक साम्य है, जिसमें भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही का सम्मिश्रण रहता है। सौन्दर्य का आधार भौतिक है, किन्तु बिना मानसिक रुचि और आकर्षण के वह अपनी पूर्णता को नहीं प्राप्त होता है। रवीन्द्र बाबू ने इस पर ही कुछ कहा है—

"ओ वोमन, दाउ आर्ट हाफ ड्रीम एण्ड हाफ रियैलिटी ।"

सुमन के दिव्य-सौन्दर्य के लिए उसका परागमय स्थूल शरीर ही

नहीं, वरन् कटीली डालें और मिट्टी के ढेले भी आवश्यक हैं। किन्तु हम मिट्टी के ढेले पर ही सन्तोष नहीं कर सकते। सुमन का सौरभ मिट्टी के ढेले की पूर्णता है। वही पृथ्वी का गन्धवती होना प्रमाणित करता है। किन्तु हम को यह भी मानना होगा कि फूल के साथ हांडी जिसमें दाल पकती है और घडा जिसमें पानी ठडा होता है, मिट्टी की पूर्णताओं में से हैं। इसके साथ हम यह भी नहीं भूल सकते कि सारी मिट्टी घडे और कुल्हड़ वनाने में ही खर्च हो जाती है, उसके खिलौने भी वनते हैं और उससे सुमन-सौरभ भी उत्पन्न होता है।

उपसंहार रूप से एक वार मैं फिर दुहराना चाहता हूँ कि जीवन के मूल्य साहित्य के मूल्य हैं। जो साहित्य जीवन को पूर्ण वनाये, वही सत्साहित्य है। जीवन की पूर्णता का अर्थ है भौतिक, मानसिक, सामाजिक और आध्यात्मिक (जिसमें धर्म और कला दोनों ही सम्मिलित हैं) मूल्यो की सम्पन्नतापूर्ण समन्विति। हम वैविध्य-शून्य अभावों की समन्विति नहीं चाहते। हम चाहते हैं वीणा के स्वगे अथवा इन्द्र-धनुष के रगो का-सा विविधतापूर्ण सम्पन्न साम्य। सत्साहित्य जीवन के व्यापक क्षेत्र में, विविधता में एकता स्थापित करने वाले विकासवाद के चरम लक्ष्य को चरितार्थ करता है। मनुष्य केंचुए से तथा उससे भी उच्च श्रेणी के जीवधारियों से अधिक विकसित इसीलिए कहा जाता है कि उसके अंगो में कार्यो के वैविध्य के साथ पूर्ण अन्विति है। सत्साहित्य का क्षेत्र न किसी वर्ग-विशेष में सीमित होगा और न उसमें किसी का वहिष्कार होगा। जहाँ उसको मानवता के दर्शन होगे, उसकी वह उपासना करेगा। उसके लिए सुन्दर और उपयोगी में भी भेद न होगा। उसके लिए उपयोगिता और सौन्दर्य दोनो एक ही वस्तु के भीतरी और वाहरी रूप होंगे। वाहर और भीतर के साम्य में ही सौन्दर्य की पूर्णता है और वही रस भी है। इस दृष्टि से साहित्य के प्राचीन मान अलकार, ध्वनि आदि भी निरर्थक नहीं हो जावेंगे। वे सौन्दर्य के ढाँचो के रूप में वर्तमान रहेंगे। कलाकार को यह स्वीकार करना पडेगा

कि बिना वस्तु के ढाँचे खोखले और निर्मूल्य होंगे और बिना ढाँचों के सामग्री बिखरी रहेगी और उसमें अन्विति नहीं आ सकेगी। काव्य की आत्मा रस ही रहेगा, किन्तु उसका स्रोत रूढ़िवाद का अन्धकूप न होगा, वरन् जीवन का विशाल और गतिशील निर्भर होगा। भविष्य का कलाकार जीवन के भौतिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और आध्यात्मिक श्रेयों को कला के सौन्दर्यपूर्ण ढाँचों में ढालकर प्रेय बनावेगा। वह सौन्दर्य को केवल वायवी न रखकर उसको पुष्ट और मांसल बनावेगा और अचल तथा स्थूल में भी वायवी-सौन्दर्य की प्राणप्रतिष्ठा करेगा।

स्मृति-संकेत

१—भारतीय साहित्य समीक्षा पद्धति में 'साहित्य का प्रयोजन' शब्द जिस अर्थ को व्यक्त करता है, पश्चिमी भाषा में उसके लिए साहित्य का मूल्य शब्द है।

२—आन्तरिक या वाह्य अथवा दोनो प्रकार की आवश्यकताओ को पूर्ण करने वाली उपयोगी वस्तुओ को मूल्यवान कहा जाता है।

३—आन्तरिक या मानसिक पक्ष ही मनुष्य को पशुत्व से ऊपर उठाता है।

४—भारतीय दर्शन में अन्नमय-कोष, प्राणमय-कोष, मनोमय-कोष, विज्ञानमय-कोष और आनन्दमय-कोष, ये पाँच कोष माने गये हैं।

५—इनमें से अन्नमय और प्राणमय कोष का सम्वन्ध मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओ में से है। वैयक्तिक इच्छाओ या महत्वाकांक्षाओ का सम्वन्ध मनोमय-कोप से है। आध्यात्मिकता या सर्वत्र आत्मदर्शन की भावना का सम्वन्ध विज्ञानमय-कोप से है। अद्वैतजन्य परमानन्द से परिपूर्ण आनन्दमय-कोप की सीमा इन सवसे ऊपर है।

६—	'साहित्यस्य भावः साहित्यम्' अथवा
'हितेन सह सहित तस्य भाव साहित्यम्'
इन दोनो व्युत्पत्तियो के अनुसार साहित्य का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध सिद्ध होता है ।

७—प्रगतिवादी केवल रोटी या भौतिक आवश्यकताओ से ही साहित्य का सम्बन्ध जोड़ते हैं जबकि इसके विपरीत कलावादी केवल आत्मानन्द ही साहित्य को सीमित कर देना चाहते हैं ।

८—भारतीय आचार्यो द्वारा प्रतिपादित धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारो पुरुषार्थो में मनुष्य के आन्तरिक और वाह्य-भौतिक और आत्मिक सब प्रकार के मूल्यो का यथोचित समावेश हो जाता है ।

९—इनके समन्वय से ही सत्साहित्य की सृष्टि हो सकती है ।

हिन्दी में गीतिकाव्य का विकास



—भगीरथ मिश्र, एम० ए०,

गीतिकाव्य, काव्य का अधिक रमणीय, प्रभावकारी एवं भावपूर्ण रूप है और गीतिभावना, कविता के अन्तर्गत सार वस्तु है। आधुनिक हिन्दी काव्य में इस भावना के दर्शन विविध और विशद रूप में होते हैं, और हम कह सकते हैं कि आज के कवि में गीतिकाव्य की प्रवृत्ति, प्रधान रूप से देखने को मिलती है। पर, यदि यह कविता की सार वस्तु है, तो इसका अस्तित्व काव्यक्षेत्र में हमें सदैव से ही देखने को मिल सकता है। हम आगे देखेंगे कि गीति की स्पष्ट सत्ता के न रहते हुए भी किस प्रकार यह भावना हमें प्राचीन, मध्य और वर्तमान सभी कालों में विद्यमान मिलती है। सबसे पहले हम इस बात पर विचार करेंगे कि गीति-भावना का क्या महत्व है और कविता के अनेक रूपों के अन्तर्गत इसका अस्तित्व किस प्रकार रहता है। पद्य काव्य या कविता के तीन रूप हम देख सकते हैं। एक तो नाटकीय कविता, दूसरी प्रबन्ध-कविता और तीसरी मुक्तक कविता है।

इन तीन रूपों में मुक्तक कविता के अन्तर्गत, कुछ नीति-उपदेश-युक्त साधारण कविता को छोड़कर प्राय में गीति-भावना, प्रधान रहती है। गीति भावना की विशेषता को हम तीन रूपों में देख सकते हैं। प्रथम गेयत्व है, द्वितीय स्वानुभूति का भाव और तृतीय कोमल भावों की सघनता है। अत गेयत्व और सघन आत्मानुभूति, जिस कविता में एक साथ पाई जाती हैं, उसी को गीतिकाव्य मानना चाहिए। उपर्युक्त तीनो

विशेषताएँ यथार्थतः उसकी आभ्यन्तर और बाह्य विशेषताएँ हैं। हम गीति की आभ्यन्तर विशेषता इस बात में मानते हैं कि उसके भीतर आत्मा की,—अपनी निजी-अनुभूति प्रगट हो। वर्णन चाहे किसी वस्तु का ही हो, पर गीति के भीतर आकर वह वर्णन वस्तु का सामान्य, कल्पनागत वर्णन न रह कर, कवि की अपनी अनुभूति के भीतर आया हुआ वर्णन हो जाता है और न केवल वस्तु की आत्मा और उसकी विशेषताओं का ही परिचायक होगा, वरन् उसके भीतर कवि की आत्मा, उसकी भावनाएँ भी प्रतिविम्बित और झाँकती हुई मिलेंगी। अत. गीति का प्रमुख तत्त्व स्वानुभूति है।

इस विशेषता के अन्तर्गत कवि की अनुभूतियों का प्रकाशन, उसकी अपनी सामाजिक, सांस्कृतिक विशेषताओं के आधार पर, अवश्य रहता है पर हम उसे सदैव देख नहीं पाते। हम यह अवश्य देख लेते हैं, कि कवि की भावना बड़ी सबल है और सीधे हमारी अनुभूतियो और प्रेरणाओं को जगाती चलती है। कवि की पावन, तीक्ष्ण पारदर्शी दृष्टि, वस्तु के भीतर कुछ ऐसे रहस्यपूर्ण और गुप्त तथ्य देखती है जो हमारे लिए नवीन होकर भी सत्य और तथ्यपूर्ण हैं। यह कवि की सूझ है, उसकी अन्वेषक शक्ति है, उसकी पवित्र व्यापक अनुभूति है और उसको साथ लेकर चलने वाली सूक्ष्म कल्पना है, जो वर्णन को इतना अपना लेती है कि वस्तु, अपनी—हृदय की सगी—हो जाती है और अपनाव के साथ-साथ हमारी असंख्य भावनाएँ उससे सम्बन्धित होकर ऐसी जाग उठती हैं कि फिर उनको सुलाना कठिन हो जाता है। वे जग कर एक प्रेरणा भरती हैं और तब हम समझते हैं कि कवि कितना प्रतिभा-सम्पन्न और अन्तर्दर्शी है।

गीति की अन्य विशेषताये भी जो उसके वाह्य रूप से सम्बन्ध रखती हैं, यथार्थ में उसकी स्वानुभूति पर ही अवलम्बित है। अनुभूति की तीव्रता में कवि स्वाभाविक रूप से गा उठता है, उसके सहज उद्‌गार गेय रूप में ही प्रवाहित होते हैं। अतः गीति की गेयता भी स्वत·-सिद्ध-सी है। गेयत्व

का एक और रहस्य है। किसी भी भाव का अनुभव हम बार-बार करना चाहते हैं। गीति की स्वर-लहरियाँ ऐसी ही होती हैं कि बार-बार कही जाकर अनुभूति पर मधुर प्रभाव डालें। बार-बार कहने पर आनन्द देना गान की विशेषता है। साधारण बात को हम उतने ही बार कह कर प्रत्येक बार वैसा आनन्द नहीं ले सकते जितना किसी गान की एक पंक्ति को सैकड़ों बार दुहरा कर पाते हैं। स्वर की दीर्घता और संक्षिप्ति अनुभूतियों को उकसाती है, उसकी कोमलता कानों को मधुर लगती है और संवादन कल्पना को सजग और विकसित कर देता है। 'गीति' की गेयता उसका आवश्यक गुण है।

अब हमें देखना यह है कि कविता का मुख्य सार यही गीति-भावना का है ? कविता के जो अन्य रूप मिलते हैं। उन्हें काव्य के अन्य रूपों की विशेषताएँ मिलकर वह रूप देती हैं, पर सूक्ष्मत. विचार करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कविता की विशेषता गीति-भावना के रूप में प्राय विद्यमान् रहती है। अत हम विभिन्न स्वरूपों को लेकर अलग-अलग उसका विश्लेषण कर इस बात पर विचार करेंगे।

सर्व-प्रथम हम नाटकीय कविता को लेते हैं। इस प्रकार की कविता में कवि अपनी भावनाओं को विभिन्न पात्रों के वार्तालाप के माध्यम-द्वारा प्रकट करता है। इसमें कवि की भावना सीधे ढंग से न प्रकट होकर दूसरों की अनुभूतियों के रूप में प्रकट होती है। इसमें वार्तालाप का, जो नाटक या उपन्यास का उपकरण है, आश्रय कवि लेता है पर यह बात उसे कविता तब तक नहीं बनाती, जब तक कि, कवि स्वय पात्रों में प्रवेश करके, उस पात्र की आत्मानुभूति को प्रकाशित नहीं करता कवि जब किसी पात्र की आत्मानुभूति को अभिव्यजित करने में इस प्रकार समर्थ होता है कि पात्र के व्यक्तित्व अथवा उसकी आत्मा की झाँकी मिल सके, तभी उसका काव्य सफल है। बाह्य रूप की अथवा उपकरण की विभिन्नता होते हुए भी 'गीति-भावना' का जो स्वानुभूतिक तत्व उसमें विद्यमान् रहता है वही उसे कविता का रूप देता है। अत' कवि की मुख्य विशेषता, नाटकीय

कविता में भी 'गीति-भावना' के रूप में छिपी रहती है।

प्रबंध-काव्य में कविता, कथानक का सहारा लेकर चलती है, अत. घटना-धारा का सौन्दर्य भी उसमें आ जाता है, पर यदि वह कविता है तो उस धारा में कवि की अपनी अनुभूति घुली-मिली अवश्य रहती है; कहीं-कहीं तो नाटकीय कविता की भांति और कहीं-कहीं दर्शक के वर्णन की भांति। इस प्रबन्ध-कविता में भी आनन्द की मात्रा आत्मानुभूति के साथ-साथ प्रखर होती जाती है, नहीं तो गतिमय उद्‌गारों और आत्मानुभूति के अभाव में प्रबन्ध-कविता और कहानी या उपन्यास में कोई अन्तर नहीं रहता।

उपर्युक्त विश्लेषण के उपरान्त हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कविता की मुख्य प्रेरणा आत्मानुभूति है और वही जब स्वाभाविक, गतिमय और गेय स्वर-लहरी में प्रकट होती है तो 'गीति' हो जाती है, अन्यथा अन्य उपकरणो और शैलियों का सहारा लेकर अन्य रूपों को धारण करती है। इसी स्वानुभूति की प्रधानता होने के कारण ही, कबीर तथा निर्गुण साधको को उनके कवि बनने का उद्देश्य न रहते हुए भी, कवि का गौरव मिला, और इसी के अभाव में कुछ कवि पूरे उपकरणों को लेकर चलते हुए भी प्रभावशाली कविता की सृष्टि न कर सके। अतः हम देखते हैं कि कविता के क्षेत्र में 'गीति' का अपना महत्व है।

गीति काव्यकार गीति-भावना की अवस्था में एक विशेष प्रकार की व्याकुलता का अनुभव करता है। उसे वह उपयुक्त प्रकाशन देने के लिए छटपटाता है। किसी परिस्थितिवश यदि वह मौन रह कर आन्तरिक भावना को पिये रहता है, तो दूसरे समय वह किसी-न-किसी रूप में फूट पडती है। इस भावना के आवेश में एक के बाद दूसरे भाव बराबर अनायास अभिव्यक्त होते रहते हैं और उनके प्रकट हो जाने पर कवि एक हल्केपन, स्वस्थता और शांति का अनुभव करता है परन्तु, जब तक वह मनोभावो को प्रकाशित नहीं कर लेता (उस रूप में जिसमें वह चाहता

है), तब तक उसे चैन नहीं। वह गभीर मौन भरा हुआ, बोझिल विषाद-ग्रस्त-सा दीखता है। अत. गीतिकाव्य में जैसी भावानुभूति होती है वैसी ही जोरदार उसकी अभिव्यक्ति भी।

यहां पर गीति-काव्य के सम्बन्ध में यह भ्रम भी दूर हो जाना चाहिए कि प्रत्येक गीत या गान, गीति-काव्य के अन्तर्गत रहता है। गीति के भीतर वही पद रखे जा सकते हैं जो लेखक की अपनी अनुभूति को अपने रूप में प्रकट करने वाले हो, अन्य पद नहीं। इसी प्रकार कवि के स्वानुभूति-सम्बन्धी वे कथन भी गीति के क्षेत्र के बाहर हैं जो सहज तथा स्वाभाविक नहीं हैं और जो गाये नहीं जा सकते अथवा जो नीति या उपदेश के रूप में हैं। अत जहां पर दोनो ही विशेषताएँ मिलती हैं वहीं पर हम 'गीति' काव्य पाते हैं। गान या पद वे हैं जो सगीत के स्वरों के नियमानुसार, साज पर गाये जा सकें, उनमें आत्मानुभूति हो या न हो। गीति में आत्मानुभूति होनी आवश्यक है, पर उसका प्रकाशन गेय व सगीतात्मक शब्द-चयन में ही बहुधा रहता है। गीति को हम दो रूपो में देख सकते हैं—एक शुद्ध गीति और दूसरे प्रगीतमुक्तक। शुद्ध गीति में स्वानुभूति-निरूपण करने वाले गीत हैं जिनमें प्राय. प्रथम या द्वितीय टेक के रूप में पद पूरा होने पर दुहराई जाती है और प्रगीतमुक्तक के भीतर वे अन्य छन्द हैं जिनमें स्वानुभूति का तीव्र प्रकाशन, सगीतात्मक शब्दों में होता है, वे ललित स्वर के साथ पढे जा सकते हैं, शास्त्रीय पद्धति पर 'सेट' करके चाहे गाये न जा सकें।

इस दृष्टि से देखने पर भारतीय साहित्य का अधिकांश गेय काव्य, गीति के क्षेत्र से बाहर है, क्योंकि उसमें दोनों विशेषताएँ एक साथ नहीं मिलती हैं। परम्परा के रूप में हिन्दी-काव्य को सस्कृत से गीति के रूप में अधिक प्रेरणा नहीं मिली। जयदेव के 'गीत गोविन्द' का प्रभाव विद्यापति तथा अष्टछाप और कृष्णभक्त कवियों पर अधिक पडा। 'गीत गोविन्द' तथा विद्यापति के गीतों में शुद्ध गीति-भावना हमें देखने को नहीं मिलती और यही तथ्य अधिकाश अष्टछाप और कृष्णभक्त कवियों के

पदो के सम्बन्ध में भी सत्य है। ये कवि प्राय राधाकृष्ण की लीला का वर्णन एक दर्शक के रूप में करते हैं और अन्तिम चरण में अपनी छाप डालने के साथ-साथ यह भाव भी प्रकट कर देते हैं कि वे भी उस वर्णन में कहीं दर्शक के रूप में और कहीं वर्णन करने वाले के रूप में उपस्थित थे। इसे और अधिक स्पष्ट करने के लिए हम विद्यापति, सूर, नन्ददास आदि के कुछ पदो को उद्धृत करेंगे, जिनमें उन्होंने कृष्ण-लीला का वर्णन किया है और जो उनके काव्य के प्रतिनिधि पद कहे जा सकते हैं : प्रथम हम विद्यापति के विरह-प्रसंग का एक पद लेते हैं—

मधुपुर मोहन गेल रे मोरा विहरत छाती।
गोपी सकल बिसरलनि रे जल छल अहिवाती,
सूतलि छहुँ अपने गृह रे निन्दइ गेलउँ सपनाइ
कर सौं छुटल परसमनि रे को न गेल अपनाइ।
कत कहवो कत सुमिरव रे हम भरए गरानि,
आनक धन सो धनवती रे कुब्जा भेल रानि।
गोकुल चान चकोरल रे चोरी गेल चंदा
विछुडि चललि दुहु जोडी रे जीव दइ गेल धदा।
काक भाख निज भाषह रे पहु आओत मोरा
खीर खाँड भोजन देव रे भरि कनक कटोरा।
भनइ 'विद्यापति' गाओल रे धैरज धर नारी
गोकुल होयत सोहाओन रे फेरि मिलव मुरारी।

उपर्युक्त पद में कृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोपियो की विरह दशा का वर्णन है। उनके भीतर कृष्ण के चले जाने पर दु ख, पश्चात्ताप, खीझ, ग्लानि और साथ-ही-साथ आशा के भावों का सचार हो रहा है; पर हैं यह वर्णमात्र। विद्यापति इसका वर्णन करते हैं, उनकी अपनी भावनाएँ ये नहीं हैं। वे तो उपदेशक रूप में गोपियों को धैर्य धारण करने का ही उपदेश देते हैं और यह आशा दिलाते हैं कि गोकुल में कृष्ण आयेंगे और गोकुल सुहावना होगा। अतः पूरे गीत में विद्यापति की कवि

के रूप में स्वानुभूति नहीं, वरन्, दूसरे की अनुभूति के रूप में है अतः हम शुद्ध गीति-भावना के अन्तर्गत इसे नहीं रख सकते। यद्यपि गीति तत्त्व इसमें प्रमुख तया विद्यमान हैं।

इसी प्रकार सूरसागर से भ्रमर-गीत-प्रसग के अन्तर्गत हम बहुत ही अधिक गीति-भावना के समीप आ सकने वाले नीचे लिखे पद को ले सकते हैं—

फूल बिनन नहिं जाऊं सखी री ! हरि बिन कैसे बीनों फूल !
सुन री, सखी ! मोहिं राम दोहाई फूल लगत तिरसूल।
वे जो देखियत राते राते फूलन फूली डार
हरि बिन फूल झार से लागत झरि झरि परत अगार,
× × ×
कैसे कै पनघट जाऊं सखी री ! डोलों सरिता तीर।
भरि भरि जमुना उमडि चली हैं इन नैनन के नीर।
इन नैनन के नीर सखी री ! सेज भरी घरनाउ,
चाहति हों याही पै चढि कै श्याम मिलन को जाऊं।
प्रान हमारे बिन हरि प्यारे रहे अधरन पर आय।
सूरदास के प्रभु सो सजनी कौन कहे समुझाय।।

सूरदास के ऊपर लिखे पद में गोपियों की दशा का वर्णन है। अपनी विवशता, अपनी उत्कठा, अपने दु:ख की भावनाओं का वर्णन गोपी दूसरी सखी से करती है। सूरदास का सम्बन्ध इस भावना से इतना ही है कि कृष्ण, जो गोपियो के पति हैं, सूर के भी प्रभु हैं। पर गीति में वर्णित भावनाएँ सूर की अपनी स्वानुभूत भावनाओ के रूप में नहीं हैं। सगुणो-पासक भक्त कवियो के गीतो में जहां भी कृष्ण व राम की जीवन-लीला का वर्णन है, वहां पर न सूर और उनके साथियो में और न तुलसी ही में शुद्ध गीति-भावना पाई जाती है। हां इनके विनय-गीतो में गीति-भावना सहज रूप में विद्यमान् है, और इस कथन की पुष्टि के लिए हम सूर के विनय-पदों और तुलसी की विनय-पत्रिका के गीतो को देख सकते

हैं। विनय-गीति की उत्कृष्ट भावना हमें इनमें खेलती हुई मिलती है। ये शुद्ध गीति-भावना के उदाहरण हैं।

इस प्रकार हमें यहाँ गीति-काव्य के दो रूप मिले। प्रथम में अनुभूति की तीव्रता और गेयत्व है, पर प्रथम पुरुष में कवि की निजी अनुभूति के रूप में उसका प्रकाशन नहीं, द्वितीय में कवि अपनी निजी अनुभूति को अपने ही रूप में प्रकाशित करता है; उसमें गेयता भी है और तीव्रता भी। अत. गीति-भावना के ये दो रूप हुए एक शुद्ध गीति या आत्मनिष्ठ गीति दूसरी परनिष्ठ-गीति।

हिन्दी की भक्ति-धारा के अन्तर्गत शुद्ध गीति-भावना हमें कबीर, दादू आदि निर्गुण उपासकों में, मीरा के काव्य तथा तुलसी की विनय-पत्रिका में देखने को मिलती है। निर्गुणियो की तो स्वानुभूति, उनकी साधना का तत्व और केन्द्र-बिन्दु है; और उन्होंने उसे अपने ही रूप में बिना किसी रूपक का सहारा लिए व्यक्त किया है। अतः निर्मल गीति-प्रवाह निर्गुण-धारा के काव्य में बहा है। कबीर कहते हैं—

मैं अपने साहब सग चली।
हाथ में नरियल मुख में बीडा, मोतियन माँग भरी।
लिल्ली घोडी जरद बछेड़ी तापै चढि कै चली॥
नदी किनारे सतगुरु भेटे, तुरत जनम सुधरी।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, दोउ कुल तारि चली॥

इस पद में जो कुछ भी वर्णन है, कबीर ने स्वानुभूत रूप में किया है, किसी अन्य प्रसग को न लेकर अपने आपको उस अवस्था में डालकर कबीर ने आत्मिक अनुभूति को व्यक्त किया है। गेय है ही अत 'गीति'-भावना का शुद्ध रूप है। निर्गुण सम्प्रदाय के अन्य कवियो—दादू, नानक, धना, पीपा, बुल्ला, दरिया, मलूक आदि में भी हमें इसी प्रकार के उद्गार देखने को मिलते हैं, पर इनमें काव्य-सौन्दर्य और अनुभूति की वह स्वाभाविक तीव्रता नहीं मिलती जो हमें मीरा के पदों में प्राप्त होती है। मीरा को भक्तिकालीन गीति-कारो में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

उनकी गीतियाँ, उनकी अनुभूतियों के स्वाभाविक उद्‌गार हैं, और वे उद्‌गार इतने तीखे और सरस हैं कि सुनने वाले को अपने प्रभाव में बहा ले जाते हैं। चाहे प्रेम-भावना हो, चाहे विरह, दोनों के ही वर्णन में जिस सत्यानुभूति के दर्शन हमें मीरा में होते हैं, वे अन्यत्र दुर्लभ हैं। मीराँ का एक पद देखिये—

हे री मैं तो प्रेम दिवाणी री मेरा दरद न जाणें कोय।
सूली ऊपर सेज पिया की किस बिधि सोवण होय।
गगन मँडल में रहणि पिया की किसि विधि मिलणा होय।
घायल की गति घायल जाणें की जिण लाई होय।
जौहर की गति जौहरी जाणें की जिण जौहरी होय।
दरद की मारी बन बन डोलू बैद मिल्या नहि कोय।
मीरा की प्रभु पीर मिटै जब बैद संवलिया होय।

मीरा की कृष्ण-सम्बन्धी विरहानुभूति बड़ी तीव्र है। भक्त की स्वाभाविक भक्ति के साथ-साथ 'गीति' का निर्मल धवल स्रोत मीराँ के पदों में बहता हुआ मिलता है। तुलसी की विनय-पत्रिका में सेवक-सेव्य भाव का प्रकाशन है, पर मीराँ की भक्ति, माधुर्यभाव की है, यही अन्तर है। इस रूप में मीराँ का दर्जा तुलसी के ही समान है। सगुणोपासक कवियों में तुलसी की विनय-पत्रिका, शुद्ध गीति-भावना का उत्कृष्ट नमूना है। भाव की तीव्रता, सत्यता और सघनता तुलसी और मीरा में एक है, पर आलवन के प्रति भाव में अन्तर है।

मीराँ जहाँ अपने आराध्य को पतिरूप में देखती है और अपने को स्त्री रूप में वहाँ तुलसीदास अपने आराध्य को स्वामी रूप में देखते हैं और अपने को सेवक रूप में। पर जो भाव की तीव्रता, एक में है वही दूसरे में जिस व्याकुलता और छटपटाहट का अनुभव मीराँ में है, वही आलवन-भेद से तुलसीदास के विनय भरे पदों में भी मिलती है। उदाहरणार्थ एक पद देखिये—

यह विनती रघुवीर गुसाईं ।
और आस-विस्वास-भरोसो, हरो जीव-जडताई ।।
चहौं न सुगति, सुमति, सम्पति कछु, रिधि-सिधि विपुल बडाई ।
हेतु-रहित अनुराग रामपद बढ़ै अनुदिन अधिकाई ।।
कुटिल करम लै जाहि मोहि जहँ-जहँ अपनी बरि आई ।
तहँ तहँ जनि छिन छोह छाडियो, कमठ अंड की नाईं ।।
या जग में जहँ लगि या तनु की प्रीति प्रतीति सगाई ।
ते सब तुलसिदास प्रभु ही सो होहि सिमिट इक ठाँईं ।।

यहाँ पर अनन्यता, विश्वास, प्रीति, त्याग आदि की कितनी तीव्र अनुभूतियाँ एक साथ विशद भक्ति-भावना के प्रवाह में तरगित हो रही हैं। ये सब कवि की अपनी है।

तुलसी की गीति-भावना में दास्यभाव की उपासना है, पर यदि प्राचीन काल में अकेला कोई हिन्दी ग्रन्थ शुद्ध गीति-भावना को लेकर लिखा गया कहा जा सकता है, तो यह 'विनय-पत्रिका' है। आत्म-समर्पण की कितनी सहज भावना नीचे लिखी पंक्तियो में व्यक्त हुई है—

जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे ।
काको नाम पतितपावन जग केहि अति दीन पियारे ।
कौन देव बराइ विरद हित हठि हठि अधम उधारे ।
खग मृग व्याध पषान विटप जड जवन कवन सुर तारे ।।
देव दनुज मुनि नाग मनुज सब माया विवस विचारे ।
जिनके हाथ दास तुलसी प्रभु कहा अपनपौ हारे ।।

'गीति' के भक्ति-सम्बन्धी ऊपर कहे गये रूपों को छोड़कर अन्य लौकिक भावनाओ के अन्तर्गत, हिन्दी के पूर्वकालीन काव्य में, गीति-भावना का प्रवेश नहीं हुआ। यत्र-तत्र रीतिकालीन काव्य में (जैसे रसखान, घनानन्द, बोधा, आलम, ठाकुर आदि की कविता में) हमें स्वानुभूति के दर्शन लौकिक प्रेम के आश्रय में मिलते हैं, पर उनमें भी छाया कृष्णभक्ति की है। साथ-ही-साथ ऐसे उद्‌गार गीतो के रूप में

कम प्रवाहित हुए हैं किन्तु इन्हे हम 'प्रगीत मुक्तकों' की कोटि में रख सकते हैं, क्योंकि कोमल भाव का घनीभूत प्रकाशन, स्वानुभूति और सगीतात्मक मधुर शब्दावली हमें देखने को मिलती है। रसखान, घनानन्द, ठाकुर, बोधा के काव्य का अधिकांश प्रगीतात्मकता से ओतप्रोत है। घनानन्द का नीचे लिखा छन्द इसका सुन्दर उदाहरण है—

सूने परे दृग भौन सुजान जे ते बहुरे कब आय बसाय हो।
सोचन ही मुरझ्यो पिय जो हिय सो सुख सोच उदेग नसाय हो॥
हाय दई घन आनन्द ह्वै करि को लौं वियोग के ताप तपाय हो।
ए हो हँसी जित जानो हहा हमें खाय कहो अब काहि नसाय हो॥

इसमें प्रेम-प्रगीत का सुन्दर रूप है। इसी प्रकार विरह-विह्वलता की तीव्र अनुभूति का प्रकाशन घनानन्द के एक और छन्द में देखिये—

रैन दिना घुटिबो करै प्रान, झरै अँखियाँ दुखिया झरना सी।
प्रीतम की सुधि अन्तर में कसके सखि ज्यो पसुरीन में गाँसी।
चौचद चार चबाइन के चहुँ ओर मचै बिरचै करि हाँसी।
यों मरिये भरिये कहि क्यो सु परौ जनि कोऊ सनेह की फाँसी॥

इस आतरिक घुटन, कसकन में कितनी मार्मिक भावानुभूति है जिसके अनुभव के कारण ही कवि का निष्कर्ष है कि स्नेह में पड़ना फाँसी में पढ़ना है। रीतिकाल की स्वच्छन्द काव्यधारा के अवगाहक कई प्रेम-प्रगीतकार हैं। घनानन्द के अतिरिक्त, बोधा, ठाकुर, आलम, सीतल आदि प्रमुख हैं। आलम का एक प्रेम-प्रगीत निम्नांकित है—

जा थर कीन्हे विहार अनेकन ता थर काँकरी बैठि चुन्यो करैं।
जा रसना सो करी बहु बातन, ता रसना सो चरित्र गुन्यो करैं।
आलम जौन से कुजन में करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यो करैं।
नैनन में जो सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करैं॥

इन स्वच्छन्द कवियों और भक्तो के उद्‌गारों को छोड़ कर गीति-भावना के विविध रूप हमें पूर्वकालीन हिन्दी-काव्य में नहीं मिलते। इसके कारण हैं। प्रथम कारण तो यह है कि पूर्वकालीन काव्य में कवि अपनी

लौकिक भावनाओं और कार्यों के विषय में मौन रहता था। कोई भी कवि हमें ऐसा नहीं मिलता जिसने अपना पूरा परिचय कहीं भी दिया हो। अपने विषय में अधिक कहना भारतीय कवि-पद्धति के अनुसार शालीनता के विरुद्ध वात समझी जाती थी। अत. ऐसी दशा में कवि अपनी लौकिक भावनाओं और अनुभूतियों को अपना कह कर कैसे गा सकता था ? अतः गीति-भावना की मूल स्वच्छन्दता उस समय न थी। कवि एक निरीक्षक और द्रष्टा के रूप में वर्णन करता था। इस बात का एक सुपरिणाम यह हुआ कि कुछ प्रवन्ध-काव्य हमें मिल जाते हैं। इसके विरुद्ध आधुनिक युग में गीति-भावना को पूरी स्वच्छन्दता मिलने पर प्रवन्ध-काव्यों और वस्तु-वर्णन को वड़ा धक्का सा लगा है; पर गीतिकाव्य खूब उमड़ा है।

आधुनिक युग में गीति-भावना के प्रवल प्रवाह के प्रमुख कारण हैं—परम्परा-त्याग और स्वच्छन्दता; अंग्रेजी गीति-काव्य का सम्पर्क, प्रकृति-प्रेम, अभाव या असन्तोष की भावना आदि। भारतेन्दु-युग में काव्य के विषयों में वहुत वड़ा परिवर्तन हुआ। गीति-काव्य को वल देने वाली भक्ति और प्रेम-भावनायें जहाँ पर वैसी ही रहीं, वहीं देश-प्रेम की नवीन भावना जाग्रत हुई जिसके अन्तर्गत आगे चलकर अनेक नाटक, प्रवन्ध-काव्य, उपन्यास आदि लिखे गये। साथ-ही-साथ इसने गीति-भावना को भी प्रेरित किया। देश-प्रेम को लेकर लिखी गई वहुसंख्यक रचनाएँ भारतेन्दु-युग में विद्यमान हैं जिनमें शुद्ध गीति-भावना हिलोरें लेती है। प्राचीन गौरव और आधुनिक दुर्दशा के चित्र, विवशता का संचार करते हैं और निरवलंवता की दशा में कवि देशोद्धार के लिए ईश्वर से प्रार्थना भी करते हैं। यह विवशता और निराशा की भावना देशगत होते हुए भी कवि की व्यक्तिगत भावना के रूप में प्रकट हुई है। भारतेन्दु जी की निराशा नीचे लिखे छन्द में व्यक्त हुई है—

कहाँ परीछित कहँ जनमेजय कहँ विक्रम कहँ भोज।
नन्द वश कहँ चन्द्रगुप्त कहँ हाय ! कहाँ वह ओज।

काल विवश जो गए नृपति वे तो क्यो उनके बालक ।
भए न उनके सम काकी श्रज्ञा उपजे कुलघालक ।
हा ! कबहूँ वह दिन फिर ऐहैं वह समृद्धि वह सोभा ।
कै अब तरसि-तरसि मसूसि कै दिन जैहैं सब छोभा ॥

भारत दुर्दशा का नीचे लिखा वर्णन कितना हृदय-द्रावक है—

जहँ शक्य भए हरिचदर नहुष ययाती, जहँ राम युधिष्ठर वासुदेव शर्याती ।
जहँ भीम करन अर्जुन की छटा दिखाती, तहँ रही मूढता कलह अविद्या राती ।
अब जहँ देखहु तहँ दु खहि दु ख दिखाई, हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई ॥

केवल भारतेन्दु ही की नहीं यह भावना भारतेन्दु के समकालीन अनेक कवियो की थी । प्रतापनारायण मिश्र, अम्बिकादत्त व्यास, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', राधाचरण गोस्वामी, श्रीधर पाठक आदि ने देश-प्रेम की भावना को व्यक्तिगत बना कर अपने गीत लिखे हैं । राधाचरण गोस्वामी इस दरिद्र भारत के उद्धार की ईश्वर से प्रार्थना करते हुए कहते हैं—

प्रभु हो पुनि भूतल अवतरिए ।
अपने या प्यारे भारत के पुनि दुख दारिद हरिए ।
महा अविद्या राक्षस ने या देसहिं बहुत सतायो ।
साहस पुरुषारथ उद्यम धन सबही विधिन गँवायो ।
जो कोऊ हित की बात कहत तौ कोपैं सब ही भारी ।
धरम-बहिरमुख मूरख नास्तिक कहि-कहि देवें गारी ॥

इन्हें हम 'जागरण-गीति' कह सकते हैं । इनमें ईश्वर को जगाने के बाद देश को जगाने का भाव आया और फिर नौजवान, किसान, मजदूर आदि को जगाने का भाव इसी देश-प्रेम को लेकर चलने वाली धारा के भीतर उमडा है जो अधिकांश प्रगतिशील काव्य के अन्तर्गत रखा जाता है । 'दिनकर' की हिमालय के प्रति कविता भी इसी भावना से ओत-प्रोत है, पर प्रगीतात्मकता का भाव इसमें पूर्वकालीन कवियो की अपेक्षा अधिक गम्भीरता, कला एव सौन्दर्य के साथ व्यक्त हुआ है।

कुछ पंक्तियाँ इसे सिद्ध करेंगी—

मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

साकार, दिव्य, गौरव विराट ! पौरुष के पुंजीभूत ज्वाल !
मेरी जननी के हिम किरीट ! मेरे भारत के दिव्य भाल !
तू पूछ अवध से, राम कहाँ ? वृन्दा ! बोलो, घनश्याम कहाँ ?
ओ मगध ! कहाँ मेरे अशोक वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहाँ ?

यहाँ तक तो पूर्ववर्ती भावना का ही मेल है, पर आगे की पंक्तियों में इस भावना की सघन तीव्रता, पुंजीभूत साहस और आकुल क्रियाशीलता को संजोकर कवि कहता है—

ले अँगड़ाई उठ, हिले धरा कर निज विराट स्वर में निनाद,
तू शैलराट् ! हुंकार भरे फट जाय कुहा, भागे प्रमाद !
तू मौन त्याग, कर सिंहनाद रे तपी ! आज तप का न काल,
नवयुग-शंखध्वनि जगा रही तू जाग जाग मेरे विशाल !

मेरी जननी के हिम किरीट !
मेरे भारत के दिव्य भाल !
नव-युग शंखध्वनि जगा रही
जागो नगपति ! जागो विशाल !

'जागरण की भावना के अन्तर्गत प्रगीतात्मकता नरेन्द्र की 'प्रभातफेरी' कविता में भी इसी प्रकार अन्तर्निहित है। 'बन्दी' को भारतीय मानव का प्रतीक मानकर कवि उसे मुक्त करने का भार अपने ऊपर लेता हुआ कहता है—

आओ, हथकड़ियाँ तड़का दूं, जागो रे नतशिर बन्दी।
उन निर्जीव शून्य श्वासों में, आज फूंक दूँ लो नव जीवन
भर दूँ उनमें तूफानों का अगणित भूचालों का कंपन
प्रलय वाहिनी हो, स्वतंत्र हो तेरी ये साँसें बन्दी।
जागो, पहचानो अपने को मानव हो समझो निज गौरव
अन्तस्तल की आँखें खोलो देखो निज अतुलित बल वैभव,
अहंकार औं' स्वाधिकार, दो पृथक् पृथक् पथ हैं, बन्दी।

इन जागरण-गीतो में प्राय कवि का 'आवेश' व्यक्त हुआ है। वह व्यग्र है और शीघ्र ही ऐसा परिवर्तन, ऐसी क्रांति चाहता है जिससे समस्त परवशता और दासता दूर हो जाय और मानव स्वच्छन्द हो अपने अधिकार प्राप्त कर सके। इसी क्रांति को जगाता हुआ 'अचल' का कवि गा उठता है—

भूखे ये भूचाल युगो के, भूखे ये तूफान भयकर
भूखी सर्वनाश की ये तस्वीरें जो अकुलाती घर घर
एक तुम्हारी आहट पाते ही ओ आग-भरी लासानी
घू-घू बुझते दीप भभक घर-घर में फूंकेंगे कुरबानी
जागो अब तो धधक उठे लू से ये खेत लुटी हरियाली
कब से ये मज़लूम बुलाते ओ जलते अगारो वाली
पाक करो यह सृष्टि दानवो से जिनने यह अनय मचाया
कब से सुप्त पडी खेतों में जागो इकिलाब घिर आया!

इस क्रांति की जागरण-प्रेरणा को फूंकने वाला कवि स्वय है। भाव का कवि से सीधा सम्बन्ध है, कथा या प्रसग की आड नहीं है अत गीति-भावना की धारा प्रधान है। इस प्रकार की भावना को लेकर आधुनिक काल में अनेक गीतियां लिखी गई हैं। प्रमुख कवि श्रीधर पाठक, मैथिलीशरण गुप्त, निराला, माखनलाल चतुर्वेदी, नवीन, सुभद्राकुमारी चौहान, द्विवेदी, नरेन्द्र, दिनकर, अचल, सुमन आदि हैं। गुप्त, प्रसाद और पन्त में यह भावना आवेश को लेकर चलने वाली नहीं, वरन् सास्कृतिक रूप ग्रहण करती है।

अग्रेजी के कवियो में विशेष रूप से वर्ड्सवर्थ, कीट्स, शेली आदि की रचनाओं के प्रभाव से आधुनिककालीन गीति-भावना को बडा बल मिला। विशेषकर छायावादी कवियों का पथ तो इन्हीं के प्रकाश में प्रशस्त हुआ, पर हम यह नहीं कह सकते कि छायावादी काव्य अपने सम्पूर्ण रूप और विकास में इनसे भिन्न नहीं है। इस काव्य की अपनी विशेषता है जिसकी शैली और स्वच्छदता की प्रेरणा अग्रेजी काव्य से

मिली है, पर भाव एव संस्कृति की धारा अधिकांश अपनी है। इस प्रभाव के फलस्वरूप मानव एवं प्रकृति-प्रेम से सम्बन्धित गीतियो का विकास देखने को मिलता है।

प्रेम-गीति के अन्तर्गत मानव, नारी एवं देश के प्रति प्रेम की भावना प्रगट हुई है। मानव प्रेम का रूप आगे चलकर दलितो एवं पीड़ितो के प्रति सहानुभूति का रूप धारण करता हुआ दिखलाई देता है। कृषकों, मजदूरों, भिखारियों के प्रति लिखे गये काव्य इसी के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। इस प्रकार की गीतियां निराला के 'भिक्षुक', 'विधवा', नवीन के 'जूठे पत्ते' आदि हैं। इस प्रकार की कविताओ में व्यक्तिगत भावना तो है, पर गेयत्व की मात्रा अधिक नहीं। साथ-ही-साथ मानव-प्रेम के रूप में अधिक न होकर सहानुभूति के रूप में ही रचनाएँ विशेष हैं। अत' इन्हें करुण-गीति कहा जाय तो विशेष संगत होगा।

देश-प्रेम का रूप ऊपर दिया जा चुका है। नारी-प्रेम स्वच्छंदतावाद की विशेष देन है। नारी के सौन्दर्य और प्रेम का चित्रण पूर्वकालीन काव्य में हुआ है अवश्य, पर, उसमें प्रगीतात्मकता नहीं आ पाई। प्रगीतात्मकता आधुनिक युग की विशेषता है और नारी-प्रेम का स्वच्छंद प्रगीतात्मक चित्रण अधिकांश अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव के कारण ही हुआ है। प्रेमगीति के अन्तर्गत, प्रेम को सम्बोधित करके भी लिखा गया है। साथ-ही-साथ नारी-पुरुष की परस्परिक प्रेम-भावना का भी सुन्दर एवं मधुमय वर्णन हुआ है। इसके अन्तर्गत प्रमुख रूप से आने वाले कवि प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी, भगवतीचरण वर्मा, नेपाली, अचल, नरेन्द्र, दिनकर, बच्चन आदि हैं। इस भावना को लेकर तो अधिकाश, आधुनिक युग का गीत-काव्य निर्मित हुआ है। अतः ऐसे गीति-कार मिलना कठिन हैं जिन्होने इसे बिलकुल ही न ग्रहण किया हो। पर प्रमुख रूप से प्रतिनिधि कवि उपर्युक्त ही हैं।

'नारी-रूप' से अपना अगाध प्रेम स्पष्ट करते हुए पन्त ने लिखा है—

स्नेहमयि सुन्दरतामयि !

तुम्हारे रोम-रोम से नारि, मुझे है स्नेह अपार।
तुम्हारा मृदु उर ही सुकुमारि, मुझे है स्वर्गागार॥
तुम्ही इच्छाओं का अवसान, तुम्ही स्वर्गिक आभास।
तुम्हारी सेवा में अनजान हृदय है मेरा अन्तर्धान॥

देवि ! मॉं ! सहचरिपक्षव ! प्राण !!

नारी का पावन व्यक्तित्व, अपूर्व आकर्षण एव प्रेरणा से पूर्ण है, जिसका विश्लेषण पत ने निम्नलिखित पक्तियों में किया है। गीति की ये पक्तियां विषय और व्यक्ति दोनों पर प्रकाश डालने वाली हैं—

तुम्हारे छूने में था प्राण, सग में पावन गगा-स्नान।
तुम्हारी वाणी में कल्याणि, त्रिवेणी की लहरो का गान॥

नारी के सौन्दर्य, स्वभाव, कोमलता, करुणा, शान्ति, शहनशीलता आदि गुणों की ओर सकेत करते हुए प्रेम की अभिव्यक्ति आधुनिक कवियों में हुई है, पर विशेष रूप से सौन्दर्य ने ही उन्हें आकृष्ट किया है।

प्रेम-सम्बन्धी समस्त भावनाओं को प्रकाशन देने के लिए आधुनिक कवियों ने प्रकृति को माध्यम बनाया है। स्थूल-सौन्दर्य-चित्रण एव सामान्य भावनाओं को छोड, सूक्ष्मता की ओर जाने के प्रयास में कवि ने प्रकृति को सजीव एव भाव-सम्पन्न रूप में चित्रित किया है। अतः प्रकृति-प्रेम का प्रकाश, प्रेम के प्रतीक-रूप में और स्वतन्त्र आलबन-रूप में, दोनों प्रकार से किया गया है। प्रकृति-चित्रण में गीति-भावना का समावेश अधिकाश कवियों में देखने को मिलता है, पर प्रमुख रूप से प्रकृति से आत्म-भाव जोडनेवाले कवि हैं—प्रसाद, महादेवी, पन्त, नरेन्द्र और नेपाली। साधारणतया प्रकृति के रूप पर तन्मय होने वाले कवि, पन्त और नेपाली हैं, इन्होंने अपनी भावना को प्रकृति-समर्पित-सा कर दिया है, उसके सौन्दर्य पर रीझकर ये आत्म-विभोर हो जाते हैं। पन्त को प्रकृति, स्नेहमयी लगती है, और उसके रूप में वे घुलमिल जाना चाहते हैं। इतना ही नहीं, वे उससे प्रेरणा भी ग्रहण करते हैं। प्रकृति

का रूप इतना लुभावना है कि वासना और संस्कार बन कर भीतर प्रवेश कर चुका है और नारी-रूप के लिए भी वे प्रकृति को छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं।

छोड द्रुमो की मृदु छाया
तोड प्रकृति से भी माया
बाले ! तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूं लोचन ?
तज कर तरल तरगो को
इन्द्रधनुष के रगो को;
तेरे भ्रू भगो से कैसे बिधवा दूं निज मृग सा मन ?

नेपाली का प्रकृति के प्रति आकर्षण, पन्त की भांति पवित्र नहीं, वरन् मादक है। वे उसके भीतर व्याप्त सजीवता के दर्शन कण-कण में करते हैं। 'भोर' का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—

हंसा कर डाल-डाल में फूल
फूल में हंसते हो सुकुमार
उडाकर काले काले भृंग
बसाते फूलो का ससार
भृंग का रूप तुम्हारी सूझ
फूल के रंग तुम्हारे खेल,
खिला कर फूल उडाकर धूल
मिलाते तुम जीवन का मेल।
झुरमुटो में छिपकर चुपचाप हिलाते तुम प्राणो के पात।
मार कर तुम किरणो के बान, खिलाते नयनो के जलजात।।

'नेपाली' का व्यक्तित्व प्रायः अपने 'विषय' से मिल कर एक हो जाता है और वर्ण्य और कवि में कोई अन्तर नहीं दीखता।

प्रसाद, निराला और महादेवी का प्रकृति-प्रेम दार्शनिक और परम्परागत आधार लिये जान पड़ता है और प्रकृति के माध्यम से ये एक अलौकिक व्यक्तित्व के दर्शन करते हैं। प्रकृति के भीतर जो भी स्पन्दन,

क्रिया-कलाप, व्यापार हैं, ये सभी इनके लिए कुछ-न-कुछ संकेत और व्यंग्य-भरे हैं। निराला का प्रकृति-चित्रण परम्परागत उद्दीपन के रूप में विशेष है जहां प्रकृति सुखद एवं दुःखद मानव-भावनाओं को सजग, सचेत अथवा प्रज्वलित करती है। 'गीतिका' के एक पद में यह बात स्पष्ट है—

वह चली अब अलि, शिशिर समीर।
कांपी 'भीरु मृणाल-वृन्त पर
नील-कमल-कलिकाएँ थर-थर,
प्रात-अरुण को करुण अश्रु भर
लखती अहा! अधीर!
वन-देवी के हृदय-हार से
हीरक झरते हर-सिंगार के
बेध गया उर किरण-तार के
बिरह-राग का तीर!
विरह-परी सी खड़ी कामिनी,
व्यर्थ बह गई शिशिर-यामिनी,
प्रिय के गृह की स्वाभिमानिनी
नयनों में भर नीर॥

निराला के अधिकांश गीतों में गेयत्व और कवित्व अधिक है, पर स्वानुभूति का सीधा प्रकाशन कम है और यह भी भारतीय-परम्परा का प्रभाव ही है। इनके वर्णन में तीव्रता है, प्रकृति के ऋतु-सुलभ प्रभाव और स्वरूप का बड़ा चटकीला चित्रण और हृदयहारी विश्लेषण है, पर वह वर्णन शुद्ध, आत्मानुभूति-रूप में कम है। एक दूसरा गीत देखिये—

रूखी री यह डाल, वसन वासन्ती लेगी।
देख खड़ी करती तप अपलक
हीरक-सी समीरमाला जप
शैल-सुता अपर्ण-अशना
पल्लव वसना बनेगी—वसन वासन्ती लेगी।

प्रसाद जी प्रकृति के भीतर मानव-भावनाओं का अन्तर्नाद सुनने वाले कवि हैं। भावनाओं को प्रकाशन देने का माध्यम प्रकृति है; उसी के भीतर से ही, उसी की लीला और व्यापारो में ही, वे आभ्यन्तर भावनाओ का इगित प्राप्त करते हैं। 'झरना' और 'लहर' आदि रचनाएँ इसी प्रकार हैं। प्रकृति के स्वरूप, मनुष्य की अन्तर्वृतियो के प्रतीक-रूप में ही प्रसाद जी के चित्रणो में मिलते हैं। भावनाओ की प्रतीक 'लहर' को सबोधित करते हुए उन्होने लिखा है—

उठ उठ री लघु लघु लोल लहर।
करुणा की नव अंगड़ाई-सी, मलयानिल की परछाँई सी,
इस सूखे तट पर छिटक छहर !
तू भूल न री पकज वन में, जीवन के इस सूनेपन में,
ओ प्यार पुलक से भरी ढुलक,
आ चूम पुलिन के विरस अधर !

गीति-भावना प्रसाद जी में पूर्णतया विद्यमान है। पर इनके वर्णन में व्यापकता और उच्चता अधिक है, सघनता और तीव्रता उतनी नहीं। प्रकृति के साथ सघनता एवं तीव्रता की भावना महादेवी वर्मा में सबसे अधिक है। जिस प्रकार भक्तिकालीन गीति-कारो में 'मीरां' का प्रधान स्थान है उसी प्रकार आधुनिक गीतिकारो में महादेवी का। उनके लिए प्रकृति बडी ही सजीव, जागरूक और अनुभूति-सकुल है।

प्रकृति को सचेतन रूप में देखने वाले कवियो में से प्रमुख पंत और महादेवी हैं। पर महादेवी जी की भावना अधिक तीव्र और मधुर है। गेयत्व भी इनमें अधिक है। इनमें आधुनिक गीति-काव्य एक कलात्मक पूर्णता को प्राप्त हुआ है। जैसी सुन्दर और मधुर कला-गीतियां इनकी रचनाओ में मिलती हैं वैसी अन्यत्र नहीं। हाँ, मीरां की भांति इनमें भी बहने वाली धारा एक ही है—प्रिय की विरहानुभूति। यह अनुभूति, प्रकृति के माध्यम से बड़ी ही सुन्दर अभिव्यक्ति पा सकी है। एक गीति देखिए—

पुलक पुलक उर, सिहर सिहर तन,
आज नयन आते क्यों भर भर ?
सकुच सजल खिलती शेफाली,
अलस मौलश्री डाली डाली,
बुनते नव प्रवाल कुंजों में,
रजत श्याम तारों से जाली,
शिथिल मधु पवन, गिनगिन मधुकण
हरसिंगार झरते हैं झर झर
पिक की मधुमय बंशी बोली
नाच उठी सुन अलिनी भोली,
अरुण सजल पाटल बरसाता
तम पर मृदु पराग की रोली,
तुम विद्युत बन, आओ पाहुन !
मेरी पलकों में पग धर धर !

इस प्रकार स्वानुभूति और गेयत्व दोनों का मधुर सम्मिश्रण हमें महादेवी वर्मा के काव्य में मिलता है। प्रकृति ही उन्हें प्रेरणा देती है, वही प्रिय का संकेत करती है और उसी से वे पूछती भी हैं—

मुस्काता संकेत भरा नभ अलि क्या प्रिय आने वाले हैं ?
मोती बिखराती नूपुर के छिप तारक-परियाँ नर्तन कर,
हिमकण पर आता जाता मलयानिल परिमल से अंजलि भर,
भ्रान्त पथिक से फिर फिर आते
विस्मित पल क्षण मतवाले हैं।

नयन श्रवणमय श्रवण नयनमय आज हो रही कैसी उलझन
रोम-रोम में होता री सखि ! एक नया उर का सा स्पन्दन !
पुलकों से भर फूल बन गये
जितने प्राणों के छाले हैं।

इस प्रकार प्रकृति और अपने में एक आन्तरिक आनुभूतिक साम्य की विशेषता महादेवी जी के गीति-काव्य में मिलती है। महादेवी में अलंकारिकता अधिक है, मीरां की सी अनावृत सरल स्वाभाविक अभिव्यक्ति का प्रवाह कम।

हिन्दी गीति-काव्य का आज भी विकास इन्हीं प्रणालियो पर हो रहा है। आज के गीतिकार में इन कवियो की अपेक्षा वैयक्तिकता कम और तटस्थता या सामाजिकता कुछ अधिक मात्रा में आ रही है। अनेक प्रकार की संबोध गीतियों का भी विकास हो रहा है।

ऊपर के विश्लेषण में हमने कला-गीतियो के विविध रूपो का संकेत किया है जिनके भेद-प्रभेद हम इस प्रकार देख सकते हैं। गीति-काव्य के दो रूप हैं—गीति और प्रगीत। प्रथम में गेयत्व पूर्ण रूप से विद्यमान् रहता है और द्वितीय में कम। पुनः इनके दो भेद हैं—आत्मनिष्ठ और परनिष्ठ इनमें से प्रत्येक के विनय-गीति, प्रेमगीति, संबोधगीति, जागरणगीति करुणगीति आदि भेद हैं। इसी प्रकार के भेद प्रगीत मुक्तको के भी देखे जा सकते हैं।

कला-गीति के अतिरिक्त गीति-काव्य की दूसरी धारा ग्रामगीतो मे मिलती है। इसमें गीति-भावना अपने सरस, नैसर्गिक रूप में प्रवहमान हैं।

ग्रामगीति में भी वही विशेषताएँ अपेक्षित हैं जो कलागीति में, अर्थात् इनके भीतर भी कवि की तीव्र स्वानुभूति, मधुर कोमलता और सगीतात्मकता विद्यमान रहना चाहिए। भेद-प्रभेद भी वही माने जा सकते हैं। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि जो सांस्कृतिक महत्व ग्राम-गीतियो का है, वह कला-गीतियों का नहीं; साथ-ही-साथ स्वाभाविकता, तीव्रता, सघनता और गहरे, पारदर्शी एव हृदयद्रावक सकेतो से जितना ग्राम-गीति-काव्य ओत-प्रोत है, उतना कला-गीति-काव्य नहीं। घरेलू विश्वासो एवं गहरी अनुभूतियों का सहज प्रकाशन ग्राम-गीति की अपनी विभूति है। ग्रामगीतों में गीति-भावना की नीचे लिखी विशेषताएं देखने को मिलती हैं।

(१) ग्राम-गीत व्यक्तिगत अनुभूतियों के सीधे सहज प्रकाशन हैं।

(२) पूरे गीत में एक ही भाव है।

(३) भावानुभूति प्रधानतया तीव्र रूप में विद्यमान् रहती है।

(४) ये अकेले अथवा समूह रूप में, ढोलक, मजीरा और बाजो के साथ गाने के लिए गये हैं।

(५) शब्दों और पदों की पुनरावृत्ति उन्हें सहज स्मरणीय बनाती है।

(६) इनमें विशिष्ट भारतीय ग्राम्य सस्कृति की झलक रहती है।

ग्रामगीत अत्यत समृद्ध हैं और हमारे समाज में उनके विविध रूप देखने को मिलते हैं। ये रूप कला-गीति के रूपों से विशिष्ट हैं जैसे, सस्कार-गीत, ऋतु-गीत, यात्रा-गीत, दैनिक जीवन के गीत, पालना-गीत। ये सब दो भागों नें है स्त्रियों के गीत और पुरुषों के गीत। स्त्री-गीतों में गीति-भावना अधिक मात्रा में विद्यमान् मिलती है। सयोग पूर्ण जीवन की कल्पना से युक्त एक वर्षा-ऋतु का गीत यहाँ दिया जाता है—

सावन घन गरजै।
कीधर की घटा ओनई, ऐरी कीधर बरसै गभीर॥
हमरा ललन परदेसिया, भीजत हुई हैं कौने देस।
सावन घन गरजै।
खस के बँगला छवउतिउँ, चौमुख रखतिउँ दुवार।
हरि लैकै चढतिउँ अटरिया, झोकवन आवति बयार॥
सावन घन गरजै।
अतलस लेहँगा पहिरतिउं, चुनरी बरनि न जाय।
झमकि कै चढतिउँ अटरिया, चौमुख दियना बराय॥
सावन घन गरजै।

कितनी स्वाभाविक अभिलाषा और जीवन की सहज आकांक्षा इस गीत में व्यक्त हुई। यह ग्राम-गीतियों की विभूति है। इसी प्रकार एक बेटी की विदा का प्रसग है। ससुराल जाती हुई अपने मायके के लोगों की भावनाओ का सकेत कितनी व्यजनापूर्ण शैली में वह कर रही है, इसे स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं—

सावन सेंदुरा माँग भरी वीरन, चुनरी रँगायो अनमोल ।
माया ने दीनो नौ मन सोनवाँ कि ददुली ने लहर पटोर ।
भैय्या ने दीनो चढन को घोडिला, भौजी मोतिन को हार ।। सावन०
माया के रोये ते नदिया वहति हैं, ददुली के रोये सागर पार ।
भैय्या के रोये ते पट्टुका भीजत है, भौजी के दुई दुई आँस ।।
सावन सेंदुरा माँग भरी वीरन, चुनरी रँगायो अनमोल ।।

पारिवारिक संस्कृति की विशेषता को लेकर चलने वाली भावधारा इस गीति में जितनी गहरी है, उसके भीतर प्रतिध्वनित व्यंग्य भी उतना ही प्रखर । एक नहीं अनेक लोक-गीतियाँ इसी प्रकार की विशेषताओं को लिए हुए हमारे गीति-काव्य की समृद्धि और वैभव को वढ़ाती हुई हमारी लोक-संस्कृति की धारा को स्पष्ट करती हैं ।

हिन्दी गीति-काव्य के वने हुए प्रौढ़ रूप अभी उपर्युक्त साँचों में ही ढल पाये हैं । ओजपूर्ण, नवीन जागरण की गीतियाँ भी ऊर्मियों की भाँति स्वतन्त्रता-प्राप्ति के वाद हिंदी काव्य-सरोवर में लहरा रही हैं, पर अभी उनको निश्चित रूप ग्रहण करने में कुछ विलम्ब है । हिंदी गीति-काव्य का भविष्य उज्ज्वल है । जिस प्रकार अभी तक उसकी तीव्रता वढती रही है, आशा है उसी गति से आगे वह विविधता और सघनता भी धारण करेगा ; पर यह अवश्य है कि गीति की स्वानुभूति के लिए अनुभूति की साधना विशेष अधिक मात्रा में अपेक्षित है । यदि यह अनुभूति व्यक्तिगत होती हुई भी अधिक व्यापक और सामाजिक हो सके, तो गीति-काव्य का सामाजिक उत्थान में भी महत्त्वपूर्ण योग हो सकता है ।

संमृति-संकेत

१—गीति-भावना कविता की सारभूत वस्तु है । गेयता, स्वानुभूति और कोमल भावना इन तीनों का समावेश गीति-भावना में होता है ।

२—गेयता का सम्वन्ध कविता के वाह्य रूप से और कोमल भावना और स्वानुभूति का सम्वन्ध आन्तरिक रूप से है ।

३—काव्य के नाटक और प्रबन्धकाव्य आदि जिन रूपो में कथानक या सवादो की प्रधानता होती है उनमें भी यह गीति-भावना अशत विद्यमान रहती है।

४—गीतिकाव्य के मुख्य दो भेद हैं, कलागीति और ग्राम गीति। कला-गीति के भी शुद्ध गीति और प्रगति, ये दो भेद किये गये हैं।

५—स्वानुभूति प्रधान गीतों को शुद्ध गीति और स्वानुभूति हीन गीतो को प्रगीत कहा गया है।

६—प्रगीत गीतो का प्रवर्तन जयदेव, विद्यापति तथा सूरदास आदि कृष्ण-भक्तो के द्वारा हुआ।

७—निर्गुणीय सतो तथा मीरां के गीत शुद्ध गीति की कोटि में आते हैं। गोस्वामी जी की विनयपत्रिका भी इसी कोटि की है।

८—आधुनिक काव्य में गीति की मूल भावना स्वानुभूति का प्राधान्य है।

९—यह स्वानुभूति या गीति-भावना, देश-प्रेम प्रकृति-प्रेम, मानव-प्रेम, नारी-प्रेम, आदि अनेक रूपो में व्यक्त हुई है।

१०—भारतेन्दु से लेकर दिनकर तक के राष्ट्रीय काव्य में देश भक्ति मूलक गीति-भावना है। इसे जागरण गीति भी कहा गया है।

११—निराला के भिक्षुक आदि में मानव-प्रेम, पत्त के काव्य में प्रकृति-प्रेम और नारी-प्रेम की भावना व्याप्त है। प्रसाद जी के प्रकृति-प्रेम पर दार्शनिक रग चढा हुआ है।

१२—महादेवी के काव्य में वैसी ही शुद्ध गीति-भावना है जैसे कि मध्य युग की मीरां के काव्य में।

१३—परम्परा का परित्याग, स्वच्छन्दता का ग्रहण, यूरोपियन साहित्य से सम्पर्क, प्रकृति-प्रेम, जीवन में याप्त अभाव और असतोप आदि कारणो ने मिलकर आधुनिक साहित्य में गीति-भावना को बल दिया है।

१४—ग्राम-गीतियो में भावो की सघनता और तीव्रता अस्वाभाविकता अत्यधिक रहती है

विश्लेषण

अर्थात्

(पूर्वउद्धृत विचार-निबन्धों का प्रश्नोत्तर रूप सार-संक्षेप, व्याख्या, लेखन प्रकार आदि परीक्षोपयोगी विश्लेषण)

प्रश्न—(क) कविता के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कविता और पद्य का अन्तर स्पष्ट कीजिए—

(ख) सच्चे कवि में कौन-कौन से गुणो का होना आवश्यक है ? कविता किन कारणो से दोषयुक्त हो जाती है ?

(ग) कवि मिल्टन ने कविता में किन गुणों की आवश्यकता बतलाई है, युक्तियुक्त उत्तर दीजिए—

उत्तर—'कवि और कविता' नामक लेख में श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी ने कविता के महत्त्व का अत्यन्त प्रभावशाली वर्णन किया है। कविता करने की शक्ति स्वाभाविक होती है। यह एक प्रकार से ईश्वरदत्त प्रतिभा है। इसलिए समस्त ललित कलाओ में सबसे ऊंचा स्थान भी काव्य-कला को प्राप्त है। कविता का प्रभाव भी और कलाओं की अपेक्षा स्थायी और मार्मिक होता है। अभ्यास से कोई व्यक्ति कविता कर तो सकता है परन्तु उसमें वह प्रभाव नही आ सकता। कविता में ऐसी शक्ति होती है कि कायर भी वीर बन जाते हैं। वीर गाथा कालीन साहित्य में चारण और भाटों ने अनेक कायरो में वीरता का सचार कर दिया। प्राचीन समय की एक घटना है कि ग्रीस के एथेन्स नामक नगर के सैनिको का एक द्वीप पर मेगारा वालो से युद्ध छिड़ गया। कई बार वह युद्ध हुआ परन्तु एथेन्स वाले पराजित हो गए। उसी नगर में सोलन नामक एक कवि था।

उसने एक कविता लिखी और अपने सैनिकों को सुनाई। उस कविता का प्रभाव यह हुआ कि सेना में एक अद्भुत वीरता आ गई। उस सेना का सेनापति भी स्वय सोलन बना और चढाई हुई। इस बार की लडाई में हृदय की वीरता प्रधान थी। परिणाम यह हुआ कि सेना की विजय हुई। इस प्रकार हम देखते हैं कि जो काम कभी-कभी अच्छे-अच्छे राजशासन और अन्य उपायो से न हो सकें वे काम एक कविता ने कर दिखाए। भक्तिकालीन काव्य इसका उदाहरण है।

कवित्व का प्रभाव वहाँ अधिक होता है जहाँ ज्ञान और सभ्यता की कमी होती है। रोम, इग्लैंड, फ्रास आदि अनेक देशों में कविता की लोकप्रियता उसी युग में बढी जब वहाँ ज्ञान और सभ्यता कम थी। उसका कारण यह है कि कविता सरल हृदय पर अधिक प्रभाव डालती है। शिक्षित वर्ग कविता की सरलता और कल्पना-शक्ति की ओर ध्यान न देते हुए तर्क को प्रधानता देता है। यही कारण है कि तुलसी कृत रामायण के ऐसे अनेक स्थल हैं जिनको सुन कर एक ग्रामीण और अनपढ आदमी रो पडते हैं मगर शिक्षित वर्ग तर्क करता है। इसलिए उसके हृदय में वह भावना नहीं आ पाती।

कवित्व का विकास स्वतन्त्र वातावरण में होता है। जब कवि अपने हृदय की सच्ची अनुभूति को वाणी देता है तभी वह प्रभाववती होती है। परतन्त्रता में उसकी लेखनी बँध जाती है। ऐसी अवस्था में उसका वह प्रभाव नही रहता जो आवश्यक है। परतन्त्रता में लिखे गए काव्य का समाज के लिए भी वह उपयोग नही ! क्योकि कवि तो जनता का प्रतिनिधि होता है और साहित्य समाज का प्रतिविम्ब। परतन्त्रता में उसे अनुभूति के वल पर नही, बल्कि झूठ के वल पर कहना पडता है। इसलिए उसकी भाषा में वह प्रवाह और प्रभावोत्पादकता नही आती। इसका अर्थ यह नहीं है कि कविता में एकदम सत्य होता है। परन्तु कविता का आधार सत्य अवश्य होता है। उर्दू की कविता में आशिक अपने विरह का जो कारुणिक दृश्य खीचते हैं वह क्या उसकी थोडी सी

भी अनुभूति उन्हे नही होती। इसलिए कवि को बेकार की ऊँची उडानें नही भरनी चाहिए। ऐसा होने पर भाव और भाषा में अन्तर पड जाता है। कविता की रूप-रेखा ही वदल जाती-है। लोग पुराने रीति-रिवाजो को महत्व देते हैं। इसलिए यदि कोई कवि नई कविता को नई शैली देता है तो आलोचक खाने दौडते हैं और उस कविता के महत्व को ही कडम कर देते हैं। इसी से दुखी होकर गोल्ड स्मिथ ने लिखा था कि कविते ! निन्दा से डरना नही। तुझ में सत्य है तो तेरी विजय है।

कुछ लोग कविता और पद्य को एक समझने लगे हैं। परन्तु कविता और पद्य में अन्तर है। पद्य में छन्द, तुकवंदी आदि की परतन्त्रता है। कविता रस-प्रधान, प्रभावशाली, मनोरंजक लेख या ववतृता है। कुछ लोग कविता के लिए तुको का होना आवश्यक समझते हैं। परन्तु यह आवश्यक नही। समस्त सस्कृत साहित्य अतुकान्त है और उसका महत्व विश्व-साहित्य में ऊँचा है। अग्रेजी में भी तुक को वह प्रधानता नही दी जाती। सच तो यह है कि तुकवदी तो कवि के लिए परतन्त्रता है। कवि का प्रभाव इसी में है कि उसकी उक्ति ओजपूर्ण हो। आज जनता की जवान पर कवियो की उक्तियाँ मन्त्र की तरह रहती हैं। कवि की भापा प्रवाहमयी और प्रभावपूर्ण होनी चाहिए। क्योकि उसकी भापा ही जनगण की भाषा का सस्कार करती है। जव तक कवि भापा पर पूर्ण अधिकार नही कर सकेगा तो कविता में वह गुण और प्रभावोत्पादकता नहीं रहेगी।

सच्चे कवि का गुण यह होना चाहिए कि वह प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण करे। प्रकृति की व्यापक सुन्दरता उसके चिन्तन और अभिव्यक्ति का साधन है। इसी के साथ मानव का गहराई से अध्ययन होना चाहिए। जो कविता मानवमात्र की व्यथा कहती है और मानवमात्र को एक सही पथ की ओर ले जाती है वही कविता है। सच्ची कविता में सत्य और शिव (कल्याण) की मात्रा प्रधान है। यही सत्य और शिव कवि के द्वारा सुन्दरता से व्यक्त होते हैं। सुन्दरता इस सत्य और शिव

को ग्राह्य वनाती है। मनोरजकता सुन्दरता की देन है।

कवि में कल्पनाशक्ति की तीव्रता होनी चाहिए। पर इसका अर्थ यह नही कि कल्पना के नाम पर ऊटपटाग लिखना शुरू कर दे। कल्पना उसकी अनुभूति को विस्तार देती है। परन्तु कल्पना से वह उसको बोध-गम्य और अनुभवगम्य वना लेता है। कवि को किसी वस्तु का अनुभव नही होता। वह मानव की आत्मा में प्रवेश करता है। कल्पना उसकी महायता करती है। वह इसके द्वारा अत्यन्त प्रभावशाली काव्य की रचना करता है। कल्पना उसे एक नई सूझ देती है। कल्पना से कविता में चमत्कार आता है। जो वात हम जानते हैं और समझते हैं वही जव कवि के मुख से सुनते हैं तो आनन्द आता है। वह एक ऐसी शैली में लिखी होती है कि लगता है जैसे यह बात हमारी है और अपने वारे में हम ही कह रहे हैं। कवि का मनोवैज्ञानिक अध्ययन विस्तृत और गम्भीर होना चाहिए।

कवि मिल्टन ने कविता में तीन गुण बताए हैं।

(१) सत्यता। (२) जोश। (३) सादगी।

कविता में **सत्यता** का अर्थ यह है कि वह उद्देश्य रहित नही होनी चाहिए। कविता जव निराधार होती है तो वह प्रभावोत्पादक नही हो सकती। इसलिए साहित्य में सोद्देश्यता एक प्रधान गुण है।

कविता में **जोश** का अभिप्राय यह है कि कवि की उक्ति स्वाभ विक होनी चाहिए। जोश जिस कविता में होता है वहाँ सात्विकता होती है। स्वाभाविकता से एक निर्जीव भी सजीव हो जाता है। वह जड में प्राण डाल देता है। जोश का यह अर्थ नही कि शब्द जोरदार और तडक-भडक वाले हो। धीमी शब्दावली में भी एक जोश छिपा रहता है। कवि तो मीठी मार करता है। छोटे शब्दो में बडी बात कहता है। वह अन्तर को जगा देता है।

कविता में **सादगी** होनी चाहिए। सादगी का अभिप्राय यह है कि साधारण जनता तक उसकी पहुँच हो। सादगी में प्रभाव अधिक होता

है। कविता की परीक्षा यही होती है कि उसको सुनते ही व्यक्ति प्रभावित हो जाता है। जो कविता जितनी अधिक प्रभावशाली होगी वह उतनी ही प्रसिद्ध होगी। सादगी उसका स्वाभाविक गुण होगा। तुलसी की रामायण में सादगी का महत्त्वपूर्ण आकर्षण है। आज वह गम्भीर के लिए गम्भीर और सादे व्यक्तियो के लिए सादगी लिए हुए है।

प्रश्न—साहित्य व समाज में परस्पर क्या सम्बन्ध है?

उत्तर—ईश्वर की यह सृष्टि बडी ही विचित्र है। मनुष्य इसके सम्बन्ध में ज्यो-ज्यो खोज करता है त्यो-त्यो उसका आश्चर्य बढता जाता है। एक छोटा सा बीज कितने विशाल वृक्ष को उत्पन्न कर देता है। यह कौन सा कम आश्चर्य है। विकासवाद के सिद्धान्तो के अनुसार सृष्टि के जड और चेतन सभी पदार्थो ने उन्नति की है और आवश्वकता के अनुसार नई-नई चीजो का आविष्कार होता रहा है। मनुष्य क्रमशः असभ्यता की ओर आ रहा है। अपने सुख व आराम के साथ दूसरो के सुखो को ध्यान में रखना ही सभ्यता है। क्योकि समाज का प्रत्येक प्राणी एक-दूसरे पर आधारित रहता है। भौतिक समाज के लिये जलवायु आदि वाह्य पचभूतो की आवश्यकता है तो मस्तिष्क के लिये स्वस्थ साहित्य की आवश्यकता है।

समाज के मस्तिष्क द्वारा प्रकट हुई विचारधारा ही साहित्य है। इसलिये साहित्य में समाज की भावनाओ का प्रतिविम्ब रहता है, अतः यह स्वाभाविक ही है कि किसी जाति के साहित्य को पढकर हमें उस जाति की तात्कालिक दशा का पता लग जाय। पारस्परिक विचारो के आदान-प्रदान से साहित्य की शृङ्खला निर्मित होती है। जैसे अच्छे भोजन से शरीर स्वस्थ व सुन्दर बनेगा वैसे ही सत् साहित्य से मस्तिष्क भी उन्नत बनेगा। देश, काल और समाज की परिस्थितियाँ मनुष्य के विचारो को बहुत अधिक प्रभावित करती हैं। जैसे कि ठण्डे देश में रहने वाले लोगो को अपने जीवन निर्वाह के लिये बहुत अधिक परिश्रम करना पडता है। इसलिये वहां के लोग भौतिकवादी हो जाते हैं। इसके

विपरीत जीवन के लिये उपयोगी वस्तुएं जहाँ अनायास प्राप्त हो जाती हो, वहाँ के लोग आलसी, विलासी या आध्यात्मिक विचारो के हो जाते हैं। भारत पर प्रकृति की परम कृपा रही है, यहाँ सब वस्तुएँ स्वल्प परिश्रम से ही प्रचुरता से प्राप्त हो जाती है। इसलिए यहाँ की विचार-धारा मुख्य रूप से धार्मिक या विलासितामय रही है।

संसार का इतिहास पढने पर साहित्य का समाज पर प्रभाव स्पष्ट सिद्ध हो जाता है। यूरोप के माध्यमिक काल में पोपों ने अपने धार्मिक अधिकार का बडा दुरुपयोग किया। परिणाम-स्वरूप वहाँ के कार्य क्षेत्र से धर्म का प्रभाव नष्ट हो गया। रूसो व वाल्टर के लेखो की प्रेरणा से फ्रास की राज्य-क्रान्ति हुई और मेजिनी के लेखो ने इटली को वर्तमान उन्नत स्वरूप प्रदान किया। भारत में भी साहित्य ने बडा कार्य कर दिखाया। हिन्दू व मुसलमानों के अजनबीपन को कबीर व जायसी आदि साहित्यकारो ने मिटाया। ऐसा साहित्य क्या हमारे देश की उन्नति में में सहायक सिद्ध नही हो सकता है? यदि हम उसे अपने जीवन के साथ ले चलें उसे पीछे न छोड जायें, अर्थात् साहित्य में पुराने विचारो को छोडकर उसे अपने आधुनिक विचारो को साथ लेकर चलें।

प्रश्न—मानव जीवन के लिये कैसा साहित्य कल्याणकारी सिद्ध हो सकता है?

उत्तर—अब सोचना यह है कि वह कौन-सा साहित्य है जिसके द्वारा हमारा उद्धार हो। इसके लिये हम कह सकते हैं कि मानव जीवन में उत्साह का संचार, सदाचार का प्रचार करने वाला और स्फूर्ति का प्रसार करने वाला साहित्य ही हमारा सबका कल्याण कर सकता है। हिन्दी में ऐसा साहित्य बहुत कम तैयार हो पाया है। हिन्दी के गद्य का स्वरूप अब तक स्थिर हो चुका है। यद्यपि गद्य की भाषा, दिल्ली व मेरठ के आस-पास की है। पर अन्य प्रान्तो में भी वह गद्य के लिये व्यवहृत होती है। अत उसमें दूसरी भाषाओ का आना स्वाभाविक है। पद्य में भाषा के स्थान पर भावो की प्रधानता होनी चाहिये। यदि किसी

कविता की भाषा बडी उच्च और साहित्यिक है परन्तु उसके भाव बिलकुल हल्के हो तो कविता साधारण ही कहलाती है। विपरीत इसके सीधी-सादी साधारण भाषा में यदि किसी ने कविता में उच्च विचार प्रकट किये हो तो वह कविता श्रेष्ठ मानी जायेगी। अत लेखको को पद्माकर या केशव की अपेक्षा तुलसी व सूर को ही अपना आदर्श मानना चाहिये। खडी बोली की कविता में व्रज भाषा के समान माधुर्य अवश्य आना चाहिये और कविता प्रारम्भ करने से पूर्व रस और अलकार आदि का पूर्ण परिचय प्राप्त कर लेना चाहिये। इस प्रकार के आदर्शो पर बनी हुई कविता ही समाज का कल्याण कर सकती है।

प्रश्न—(क) छायावाद का जन्म किन परिस्थितियों में हुआ और उसके क्या कारण थे ?

(ख) छायावाद की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए उत्तर दीजिए कि क्या छायावाद आध्यात्मिक काव्य है ?

(ग) छायावाद की स्पष्ट व्याख्या करते हुए उसके बारे में फैली हुई भ्रान्तियो के कारण बताइए और उनका निराकरण कीजिए।

उत्तर—प्रत्येक वाद किसी एक विशेष विचारधारा के प्रतिक्रिया-स्वरूप जन्म लेता है। छायावादी काव्य भी द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मक और वस्तुगत काव्य के प्रतिक्रिया-स्वरूप व्यक्त हुआ। द्विवेदी युग की इस काव्य-पद्धति के पीछे मामाजिक और राजनैतिक कारण थे। द्विवेदी युग तक आते-आते हमारा समाज और साहित्य राजनैतिक दृष्टि से पश्चिम के स्वच्छन्द विचारों से सपर्क स्थापित कर चुका था। राजनैतिक और सामाजिक बधनो के प्रति एक असन्तोप की लहर दौड रही थी। समाज में सुधार की भावना और राजनीति में ब्रिटिश राज्य की अचल सत्ता के कारण विद्रोहात्मक भावनाएँ बहिर्मुखी अभिव्यक्ति का अवसर नही पा रही थीं। द्विवेदी युग की कविता का विषय भी इसीलिए बाह्य सामाजिक जीवन बन गया। यही कारण है कि द्विवेदी युग के कवि बाह्य

विपयो को लेकर कविता लिखते थे। यह कविता इतिवृत्तात्मक और वस्तुगत थी। परन्तु मानवीय कुंठाएं किस प्रकार दब सकती थी। इसी प्रतिक्रिया-स्वरूप छायावादी काव्य जन्मा। छायावादी कविता का विपय अन्तरग व्यक्तिगत जीवन बन गया। ये अनुभूतियाँ अन्तर्मुखी होकर अवचेतन में समा गई और वही से छायाचित्रो को जन्म देने लगी। छायावाद की कविता आत्मगत और भावात्मक हो गई।

जब हम समस्त छायावादी काव्य पर दृष्टि डालते हैं तो उसमें व्यक्तिभाव, शृङ्गारिकता, प्रकृति का मानवीयकरण, वास्तव के प्रति उपेक्षा और दर्शन आदि की विशेषताएं मिलती हैं। जैसा कि परिस्थितियो को देखने से पता चलता है छायावादी काव्य अतर्मुखी अनुभूतियो का अभिव्यक्ति काव्य है। छायावादी काव्य निस्सदेह मानवीय कुण्ठाओ से प्रेरित है। इसलिए उसमें शृङ्गार का मुख्य स्थान है, परन्तु अन्तर इतना है कि इन छायावादी कवियो ने स्थूल सौन्दर्य की उपेक्षा करके एक अशरीरी सौन्दर्य को अपनाया। परोक्ष के प्रति रति इन कवियो में मिली। इस परोक्ष का सौन्दर्य अशरीरी और अतीन्द्रिय ही हो सकता है। एक प्रकार से इन्होने यथार्थ को अतीन्द्रिय और वायवी रूप दे दिया। इस सौन्दर्य के चित्रण के लिए इन्होने प्रकृति के प्रतीको को अपनाया, प्रकृति पर चेतना का आरोप किया। प्रकृति अनादि काल से मानव जीवन को स्पदित करती आ रही है। प्रकृति को देखकर इन कवियो के हृदय में जो भावनाएँ उठी उनका चित्रण हुआ। इसलिए छायावाद को प्रकृति-काव्य नही कह सकते। वे तो मानवीय कुंठाएं ही थी जो प्राकृतिक प्रतीको के सहारे व्यक्त हुई। एक कारण यह भी था कि प्रकृति में मानवीय सभी स्पदन मिलते हैं। ये कवि-समाज और साहित्य के वाह्य सघर्षो से ऊवे हुए थे। इन्हे विश्राम-स्थल प्रकृति मिली। प्रकृति के आँगन में वैठ इन कवियो ने भौतिक सौन्दर्य और वास्तव की उपेक्षा की। 'इस जग को छोडकर वाला के वाल-जाल में लोचनो की उलझन' भी उन्हें पसन्द नही आई। इन्ही सत्यो के कारण छायावाद आध्यात्मिक काव्य नही कहा जा

सकता, क्योकि छायावाद किसी धार्मिक साधना या आध्यात्मिक प्रेरणा से प्रेरित नही। कुछ आलोचको ने छायावाद के मूल मे सर्वात्मवाद को माना है और इसी दृष्टि से उस पर आध्यात्मिकता का आरोप करते हैं। परन्तु वास्तव में ऐसा नही है—यो तो भारतीय दृष्टि प्रारम्भ से ही जड और चेतन के प्रति एक सवेदना रखती आई है किन्तु छायावाद का आरभ इस उदात्त सर्वात्मवाद से प्रेरित होकर नही हुआ। पहले कहा जा चुका है कि छायावाद कुठित वासनाओ की सूक्ष्मतर अभिव्यक्ति है। इसलिए उसमें रहस्यानुभूति नही। यह आध्यात्मिक अनुभूति इसलिए भी सम्भव नही थी कि जिस समय छायावादी काव्य आरम्भ हुआ उस समय इन कवियो की अवस्था भी योगी की नही थी। इनका तारुण्य था और वह तारुण्य जिसमें वासना व्यक्त होने को छटपटा रही थी, परन्तु वहिरग पद्धति उन्हे अवसर नहीं दे रही थी। ऐसी अवस्था में यह सम्भव था कि ये भावनाएँ अन्तर्मुखी होकर एक अस्पष्ट छायाचित्रो को जन्म दें। इन्ही आशा और निराशा के स्वप्नमय छायाचित्रो का समन्वय छायावाद में दीखा।

डा० नगेन्द्र ने छायावाद के वारे में फैली हुई भ्रातियो का अत्यन्त स्पष्टता से निराकरण किया है। ये भ्रातियाँ सख्या में तीन हैं। सवसे पहली भ्राति तो इसलिए है कि छायावाद और रहस्यवाद में जो अतर है उसका स्पष्टीकरण नही हो पाया। धीरे-धीरे छायावाद समझ में आया है। जो आलोचक छायावाद को एक प्रकार से आध्यात्मिक चिन्तन मानते थे, वे छायावाद और रहस्यवाद का अन्तर समझने मे असमर्थ रहे। रामकुमार वर्मा आदि भी इस काव्य में कवीर की योगात्मक पद्धति के दर्शन करते हैं। छायावादी काव्य में प्रकृति और पुरुष के प्रतीक खोजने में उलझ जाने के कारण यह भ्राति है। जव कि यह एक विवादरहित सत्य है कि छायावाद की सृष्टि किसी आध्यात्मिक प्रेरणा से नही हुई। छायावाद वौद्धिक युग की सृष्टि है। इसलिए छायावाद में आध्यात्मिक दृष्टि से रहस्यात्मक प्रतीक खोजना उसके प्रति अन्याय है।

दूसरी भ्राति का कारण यह विचारधारा है जो छायावाद को योरोपीय रोमाटिक काव्य से अभिन्न मानती है। यह मानते हुए भी कि छायावाद में वही मानवीय कुठा है फिर भी छायावाद एक विशेष देश और काल की उपज है। योरोपीय काव्य के पीछे एक सफल विद्रोह था जिसके कारण वहाँ आत्मविश्वास था। हमारे यहाँ की परिस्थिति और थी। यहाँ चारो ओर असफलता ही थी। यही कारण है कि योरोपीय रोमाण्टिक काव्य में निश्चयात्मकता थी, वायवी काल्पनिकता कम। हमारे यहाँ असफलता के कारण एक घोर निराशा ने घर कर लिया जिसने मधुर काल्पनिक चित्रो को अधिक प्रेरणा दी। छायावाद में योरोपीय रोमाण्टिक काव्य जैसी अनुभूति की तीक्ष्णता नही मिलती।

तीसरी भ्राति आचार्य शुक्ल ने उत्पन्न की है जो छायावाद को एक शैली तत्वमात्र मानते थे। इसका कारण यह था कि शुक्ल जी वस्तु-अभिव्यजना में एक निश्चित अन्तर मानते थे। परन्तु काव्य केवल अभिव्यक्ति का प्रकार मात्र नही हो सकता। सच्चा काव्य वही है जिसके पीछे अनुभूति की अन्तर्प्रेरणा है। छायावाद में अनुभूति की अन्तर्प्रेरणा है। इसलिए वह केवल टैकनीक मात्र नही कहा जा सकता।

इन सब बातो पर विचार करने के वाद जब हम छायावाद की व्याख्या करते हैं तो एक वाक्य में यह कि छायावाद जीवन के प्रति एक भावात्मक दृष्टिकोण है। प्रकृति के प्रतीको द्वारा अन्तर्मुखी अनुभूति की अभिव्यक्ति है। सर्वात्मवाद से प्रभावित अवश्य है परन्तु सीधा सम्बन्ध उससे नही है। छायावाद के मूल में कुठा की प्रेरणा है। इसमें कोई सन्देह नही कि छायावाद से हिन्दी साहित्य में एक नवीन भाषा, नवीन हाव-भाव आए। छायावाद ने सौन्दर्य-परख की गहन दृष्टि दी। छायावादी काव्य में अनेक अनमोल और अमर काव्यो की गणना की जा सकती है। जिस छायावाद ने 'कामायनी', 'पल्लव', 'नीरजा, 'परिमल' जैसे ग्रन्थ दिए वह निश्चय ही गौरवास्पद है। हिन्दी में छायावादी काव्य की देन अजस्र आनन्द की अनुभूति कराती रहेगी।

प्रश्न—(क) 'कला, कला के लिए या जीवन के लिए' द्विवेदी जी के आधार पर सयुक्ति विवेचन कीजिए।

(ख) कला में जीवन की अभिव्यक्ति का क्या अर्थ है? साहित्य और कला के सवन्धों को स्पष्ट कीजिए।

(ग) आदर्श और यथार्थ के वीच कला किस प्रकार की प्रेरणा लेकर उदय होती है, लिखिए।

उत्तर—प० शातिप्रिय द्विवेदी हिन्दी के प्रौढ निवधकार हैं। उन्होंने अपने इस निवध में कला का सवध जीवन से वताया है। आजकल समाज की तरह साहित्य में भी कुछ यथार्थ के नाम से भयभीत आलोचक कला, कला के लिए कहने लगे हैं। ऐसे लोगो की दृष्टि में इस आँसू हासमय ससार से अलग कोई वस्तु है जिसे कला कहते हैं। परन्तु विचार करने पर इसमें कोई सदेह नही प्रतीत होता कि कला जीवन के लिए है। जैसे जीवन तो व्यक्त होता है मगर उसकी अभिव्यक्ति होती है। मनुष्य के शरीर द्वारा इसी तरह कला भी ग्रथ का शरीर लेकर इस जीवन के सामने आती है। किसी भी ग्रन्थ की उपादेयता जितनी उसकी वाहरी सुदरता पर निर्भर है उससे अधिक उसकी आतरिक सुदरता पर है। भाव यह है कि उस ग्रथ का वाह्य रूप भी और आन्तरिक रूप भी हमारे जीवन से सवधित है, इस दृष्टि से कला का सम्वन्ध हमारे जीवन से स्वय सिद्ध है।

किन्तु 'कला कला के लिए' यह उक्ति सर्वथा व्यर्थ नही है। साहित्य में जव गतिरोध आजाता है तव कलाकार कला को नूतन गतिविधि देते हैं। वे साहित्य के भीतर से जीवन को जगाते हैं। मानवीय मनोविज्ञान के आधार पर कला के नए रूपरगो को जगा देते हैं। कारण यह है कि ज्यो-ज्यो समय का प्रवाह आगे वढता है, त्यो-त्यो मनुष्य का जीवन एक नवीन पथ की ओर वढता है। स्वभावतया उसमें जटिलता आना सभव है। इससे मनोविज्ञान में भी जटिलता आजाती है। उस जटिलता को सरल वनाने के लिए कला अपने नए रूपरग से उपस्थित

होती है। द्विवेदी जी ने उदाहरण देकर बताया कि पहले यह मनुष्य से कहा गया कि सच बोलो। बाद में उसे कहा गया कि अप्रिय सत्य न बोलो। मानव-समुदाय अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति चाहने लगा। यही से साहित्य और कला का सम्बन्ध स्थापित होने लगा। परन्तु प्रत्येक युग की अनुभूति अपना नया स्वरूप लेकर आती है और कला का भी नया रूप होता है। प्रत्येक साहित्य के अलग नियम हैं। जो नियम मध्यकालीन साहित्य के लिए लागू होते हैं वे आज के साहित्य पर नही हो सकते। तात्पर्य यह है कि कला का विकास स्वतन्त्र रूप में ठीक होता है। जीवन का विकास भी स्वतन्त्र होता है। रूढियो में कला का विकास नही हो सकता। चाहे उपयोगी हो चाहे ललित कला हर दृष्टि से उसका सम्बन्ध जीवन से है।

इस सबका अभिप्राय यह है कि कला साधन है, लक्षण है, अभिव्यक्ति है। लक्ष्य, साध्य और अभिप्रेत जीवन है। समाज सच्चे जीवन को पाने की सदा लालसा रखता है और वह जीवन साहित्य देता है। वह कला के द्वारा उसे मनोहर बनाता है। इसीलिए साहित्य को सत्य, शिव के साथ सुन्दर से जोड़ा गया है। परन्तु सौन्दर्य किसी भी दृष्टि से अमगलकारक नही होना चाहिए। यदि केवल कला, कला के लिए होगी तो वह 'विषकन्या' की भाँति वह अमगलदायक भी हो सकती है। ऐसी अवस्था में कला साहित्य के लिए उपयोगी सिद्ध नही हो सकती। इस लिए कला का सौन्दर्य मागलिक होने में ही सार्थक है।

द्विवेदी जी के शब्दो में "कला, कला के लिए सकेत इसी अभिप्राय में ग्रहण कर सकते हैं कि कला रूढिरहित हो, उसे नाना परिवर्तनो द्वारा कल्याणमयी चेतना को व्यक्त करने की स्वतन्त्रता हो। यह स्वतन्त्रता कला के लिए ही नही, जीवन के लिए भी वाछित है। किन्तु स्वतन्त्रता स्वतन्त्रता ही रहे वह स्वेच्छाचारिता न बन जाए। स्वेच्छाचारिता भी उतनी ही अशोभन है जितनी कि परतन्त्रता।" इसमें तो कोई सन्देह नही कि जीवन की सरिता का प्रवाहशील होना ही प्रगति है। परन्तु सरिता

जैसे दो किनारो के बीच बँधी चलती है उसी तरह जीवन को भी स्व स्वीकृत मर्यादाओ के अनुसार चलना चाहिए। साहित्य में कला द्वारा जीवन की ऐसी ही लौकिक अभिव्यक्ति होती है। जीवन की यह अभिव्यक्ति सार्थक है और यथार्थ है।

आदर्श और यथार्थ भी कला के साथ जुडे हैं। यथार्थ के नाम पर कला का नग्न रूप अभीप्सित नहीं है। वास्तविक कला वह है जो वास्तविकता को सजाती और सँवारती है। कलाकार कृष्ण ने द्रौपदी की रक्षा की। क्योकि वह सच्चे कलाकार थे। कलाकार कला के द्वारा वास्तव को, सत्य को शिव और सुदरमय बनाता है। इस दृष्टि से आदर्श और यथार्थ का समन्वय कला में होता है। द्विवेदी जी के शब्दो में "सुन्दरता यदि कला है, परिच्छद है तो यथार्थ उसका शरीर है और आदर्श उसकी मगल-आत्मा। शरीर अपनी स्थूल यथार्थता के कारण प्रशस्त नही है, वह महान् है अपनी आत्मा के कारण। × × × जिस प्रकार शरीर आत्मा का माध्यम है उसी प्रकार यथार्थ आदर्श का माध्यम।.... .. घोर से घोर कलुषित व्यक्ति भी जब अपना फोटो खिचवाने जाता है तब वह अपने को इस 'पोज़' में साकार करना चाहता है कि लोक-दृष्टि को सुन्दर जान पडे। साहित्य में व्यक्ति और समाज के चित्रो को उपस्थित करते समय कलाकार को फोटोग्राफर से अधिक कला-कुशलता दिखानी पडती है।"

आज का कलाकार सकेत से काम लेता है। समाज में एक वर्ग ऐसा है जो इस भाषा को नही समझता। प्रेमचन्द ने ऐसे वर्ग को साहित्यिक रुचि दी। प्रेमचद, शरत् और टैगोर आदि साहित्यकारो ने समाज का वास्तविक चित्र उपस्थित किया। इनके आदर्श और यथार्थ समाज के लिए कितने हितकर हुए, यह छिपा नही है।

आदर्श को सकुचित अर्थ से निकाल देना चाहिए। द्विवेदीजी के शब्दो में प्रेम, सहानुभूति, करुणा, समता ये भी आदर्श के प्रतीक हैं; ये किसी जाति धर्म और देश तक ही सीमित नही। आदर्श तो मनुष्यता

की तरह विस्तृत, आत्मा की तरह व्यापक है। देश-काल के भेद से आदर्श नव-नव रूप धारण करता है। उस चिरनवागन्तुक पथिक के लिए यथार्थ गाइड का काम करता है। वह समाज की ऊँची-नीची गलियो से घूमता हुआ आदर्श को उसके उज्ज्वल सिंहासन तक पहुँचा देता है। यथार्थ के बिना आदर्श गतिरहित है। आदर्श के बिना यथार्थ जीवन रहित। आदर्श यदि राजपुरुष है तो यथार्थ उसका मंत्री। यह राजमन्त्री ही राजपुरुष को मानवता के संरक्षण के लिए मन्त्रणा देता है। यथार्थ चाहे तो अपने राजा के साथ विश्वासघात कर सकता है। जब वह विश्वासघात करता है तभी जन-रव क्षुब्ध हो जाता है। यों वह अपने स्थान पर सार्थक है।

प्रश्न (क) सिद्धावस्था को प्रकट करने वाले और साधनावस्था को प्रगट करने वाले काव्य कौन-कौन से हैं ?

(ख) प्रयत्न-पक्ष और उपभोग-पक्ष में क्या अन्तर है ? कारण देकर समझाइये।

(ग) भूषण आदि वीर कवियों के काव्य किस कोटि में रखे जा सकते हैं ? सप्रमाण सिद्ध कीजिये।

उत्तर—दो प्रवृत्तियां हैं आनन्द की साधनावस्था और आनन्द की सिद्धावस्था। आनन्द की सिद्धावस्था प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलती है और आनन्द की सिद्धावस्था उपभोग-पक्ष को लेकर चलती है। काव्य के आनन्द को ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है। ब्रह्म के तीन रूप हैं सत्, चित् और आनन्द। काव्य में आनन्द स्वरूप को लेकर ही भक्त-कवि चले हैं। जीवन के दो पक्ष हैं—सुख और दुःख, आशा और निराशा आदि। कुछ कवि ऐसे होते हैं जो कि जीवन के सुखात्मक और आशात्मक माधुर्य रूप का ही चित्रण करते हैं और कुछ कवि ऐसे हैं जो कि निराशा, दुःख, पीड़ा, अत्याचार और अन्याय को लेकर चलते हैं। जो लोग जीवन के सुख और माधुर्य को लेकर चलते हैं ऐसे कवियों का काव्य आनन्द की

सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष की कोटि में आता है और जो कवि पीडा, बाधा, अन्याय और अत्याचार के दमन में लगी हुई शक्ति का चित्रण करते हैं और उनमें उत्साह, क्रोध, करुणा, भय और घृणा आदि का चित्रण करते हैं, ऐसे कवियो के काव्य आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष की कोटि में आते हैं।

शुक्ल जी ने ऐसे ही कवियो को पूर्ण कवि माना है, क्योकि ये कवि जीवन की विषम परिस्थितियो के भीतर से सौन्दर्य की ज्योति खीच कर बाहर लाते हैं। साथ ही कुछ कवि ऐसे होते हैं जिनका मन उपभोग-पक्ष की ओर बिल्कुल ही नही जाता। उदाहरण-रूप में भूषण को रखा जा सकता है। आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वाले काव्यो में—रामायण, महाभारत, रघुवश, शिशुपाल वध, किरातार्जुनीय आदि हैं। हिन्दी में रामचरितमानस, पद्मावत, हम्मीररासो आदि प्रबन्ध-काव्य, भूषण आदि कवियो के वीररसात्मक मुक्तक और आल्हा आदि प्रसिद्ध वीरगाथात्मक गीत हैं। उर्दू के वीररसात्मक मरसिये, योरोपीय भाषाओ में—इलियट, ओडेसी, पैराडाइज़ लास्ट, रिवोल्ट आफ इस्लाम तथा पुराने इलैट्स।

आनन्द की सिद्धावस्था, या उपभोग-पक्ष में आर्यसप्तशती, गाथा-सप्तशती, अमरुशतक, गीतगोविन्द तथा शृगार रस के फुटकर पद्य—

हिन्दी में सूरसागर, कृष्ण-भक्त कवियो के पद, बिहारी-सतसई, रीतिकालीन कवियो की शृगारिक रचनाएँ, रासपचाध्यायी जैसे वर्णना-त्मक काव्य तथा अधिकाश छायावादी रचनाएँ, फारसी उर्दू के शेर और गज़लें, अग्रेज़ी के लिरिक्स तथा कई प्रकार की वर्णनात्मक रचनाएँ गिनी जा सकती हैं।

आनन्द की साधनावस्था में चलने वाले कवि उस शक्ति के दोनों रूपो को बड़ी मधुरता से चित्रित करते हैं। वे दोनो रूप जिनमें मनोहरता और कटुता, मधुरता और प्रचण्डता होती है। ये कवि इन दोनो रूपो का बड़ी चतुरता से समन्वय करते हैं और यह सामजस्य कई रूपो में हमारे

सामने प्रदर्शित होता है। प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वाले ये कवि असौन्दर्य की सृष्टि करने में सौन्दर्य के लिए द्वार खोलते हैं, क्योंकि जब तक असौन्दर्य का आवरण नही हटाया जायेगा तब तक सौन्दर्य के दर्शन नही हो सकते। यही कारण है कि कवि अधर्म और अमगल की घटनाओ को चीर कर धर्म और मगल के दर्शन कराता है। वह अपने काव्य में रोष इसलिए दिखलाता है कि उसकी दृष्टि करुणा की ओर है। यदि उसकी दृष्टि विध्वस और हाहाकार की ओर हो तो निश्चित रूप से उसका लक्ष्य रक्षा और लोक-कल्याण है। व्यास का जय-काव्य आदि ऐसे ही उदाहरण हैं। पाठको की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए कवि उस शक्ति की विफलता भी दिखलाता है जो आनद और कला के प्रकाश की ओर बढती हुई होती है। शैली आदि कवियो ने अपने काव्य में ऐसे ही चित्रो का उद्घाटन किया है जो लोक-मगल की साधना करते हैं और अनेक अत्याचारो और अन्याय से पीडित होते हैं।

यह एक स्वाभाविक सत्य है कि कवि सौन्दर्य से प्रभावित होता है और जिस सौन्दर्य की अनुभूति उसे होती है वह उसी सौन्दर्य का कल्याणमयी दर्शन सारी सृष्टि को कराता है। उसकी व्यापक दृष्टि होती है, जिसमें अनेको सौन्दर्यों का मूल स्वरूप होता है। यही कारण है कि कवि अपने चरित्रो में अलौकिक गुण भरता है और अलौकिक सौन्दर्य भी, ताकि जनजीवन को उन चरित्रो से शक्ति और आनन्द का अनुभव करा सके। सौन्दर्य भी भीतरी और बाहरी होता है किन्तु भीतरी सौन्दर्य का उद्घाटन करने के लिए बाहरी सौन्दर्य का प्रकाश भी आवश्यक है। इसलिए राम-कृष्ण आदि चरित्र हमें जितने वीर, कुशल और पराक्रमी दिखाई देते हैं उतने ही सुन्दर भी हैं। यही बात और चरित्रनायको के बारे में भी कही जा सकती है। शुक्ल जी ने इस बात का विरोध किया है कि कवियो को प्राचीन आख्यानो का वर्णन करते समय आदर्श पात्रो और चरित्रो में किसी प्रकार का विकार नही पैदा करना चाहिए। उनके चिर प्रतिष्ठित आदर्श को ठेस नही लगानी चाहिए। एक रूप में शुक्ल जी

का यह कथन सत्य है परन्तु इस बात से भी मुख नही मोड़ा जा सकता कि कवि अपने युग का प्रतिनिधि होता है। वह जिस आदर्श पात्र का चित्रण करता है उसमें अपनी आत्मा को बैठा कर तब सृष्टि को देखता है। सोचने की बात है कि यदि वह उस आदर्श के चिर-प्रतिष्ठित आदर्शों को ही यदि नया रूप नहीं दे सकेगा तो उस पात्र का महत्व और लोकप्रियता किस रूप में ग्रहण की जा सकेगी, यह सोचना कठिन ही है। ठीक इस अर्थ में कहा जा सकता है कि आज के कवि यथार्थवादी और एकदम आदर्शवादी होने के कारण आदर्श पात्रो को एक ऐसा रूप दे देते हैं जिनके प्रति जितनी श्रद्धा वाछनीय है, उतनी नही हो पाती। क्योकि जनता की धारणाएं उन आदर्श पात्रो के प्रति जिस रूप में विख्यात हैं यदि उसमें ऐसा विकार जो कि जन-गण को ग्राह्य न हो, चित्रित किया जाता है तो उसका फल उलटा ही होता है। इसलिए कवियो का यह कर्तव्य है कि वे अपने काव्यो की रचना करते समय उन आदर्श पात्रो के चिर-प्रतिष्ठित चरित्र में विकार न देकर सुन्दर लोक-कल्याणकारी और समुचित रूप को चित्रित करें। यह तब ही हो सकेगा जब कि दृष्टि व्यापक और सूक्ष्म होगी। बहुत से कवि अपने सामयिक विचारो एव परिस्थितियो से प्रभावित होकर आदर्श बदल देते हैं। इन सामयिक आदर्शों का मूल्य इतना नही होता जो वास्तविक साहित्य के मौलिक आदर्शों का होता है। इसलिए जो सच्चे कवि होंगे उनमें प्रयत्न-पक्ष और उपभोग-पक्ष दोनो मिल सकते हैं। यह दूसरी बात है कि उपभोग-पक्ष में उनकी दृष्टि कलात्मकता और रसात्मकता की ओर रही हो इसी रसात्मकता को वे काव्य का कल्याणकारी रूप देना चाहते हो। उसके लिए सूक्ष्म प्रकृति के चित्रण की आवश्यकता है। इसमें कोई सन्देह नही, कि जीवन में अनेक गुण हैं, जीवन अनेक रूप है, इसमें सत्व, रज और तम तीनो गुण हैं, परन्तु जो सच्चे कवि हैं उनके लिए सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण की अधिष्ठता है अर्थात् रजोगुण और तमोगुण सत्वगुण के अधीन रहते हैं और यही सात्विकता

मनुष्य को एक अलौकिक आनन्द की प्राप्ति करा देता है और इसी सात्विकता के आनन्द में उग्रता भी है और प्रचडता भी। वह फूलों मे भी अधिक कोमल और वज्र से भी अधिक कठोर होता है।

प्रश्न ६—आधुनिक हिन्दी साहित्य में मनोविज्ञान शीर्षक लेख में श्री इलाचन्द्र जोशी ने प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, 'अज्ञेय' तथा अपने सम्बन्ध में क्या विचार व्यक्त किये हैं ? आप उनसे कहाँ तक सहमत अथवा असहमत हैं, क्यो ?

उत्तर—जोशी जी ने इस लेख में बताया है कि मध्ययुग में सूर और तुलसी की रचनाओ में मनोविज्ञान का आभास है। यद्यपि ये दोनो कलाकार भी गहरे स्तर की मनोवैज्ञानिकता का चमत्कार नही दिखा पाये हैं। तत्पश्चात् मनोवैज्ञानिकता के दर्शन हिन्दी में या तो अज्ञेय की प्रयोगवादी कविताओ में जो 'तारसतक' में सकलित की गई हैं, में होते हैं या जैनेन्द्र जी के उपन्यासो में। तीसरे स्वय जोशी जी हैं जिनके उपन्यासो में उच्चकोटि का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है। यू जैनेन्द्र जी ने भी अपने प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक उपन्यास 'सुनीता' का ढाँचा रवि बाबू के 'घरे बाहरे' उपन्यास के आधार पर खडा किया है। यद्यपि मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के कारण सुनीता भी मौलिक ही है। 'अज्ञेय जी की 'शेखर एक जीवनी' एक खिचडी रचना है। इसलिए हिन्दी के एक मात्र मौलिक मनोवैज्ञानिक सफल उपन्यासकार जोशी जी ही सिद्ध हुए। इन्ही कारणो से कहा गया है कि हिन्दी का मनोवैज्ञानिक उपन्यास-साहित्य आश्चर्यजनक उन्नति कर रहा है।

बगला उपन्यास-साहित्य में मनोवैज्ञानिकता का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि बगला में सबसे पहले वकिमचन्द्र चटर्जी के 'विपवृक्ष' आदि उपन्यासो में मनोविज्ञान के दर्शन हुए फिर रवि बाबू के उपन्यासो में। शरत्चन्द्र के उपन्यासो में वैसा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण नही है। प्रेमचन्द जी के बारे में जोशी जी का मत है कि भारत-भारती को इस समय जो साहित्य मूल्य प्राप्त है, वही निकट भविष्य में प्रेमचन्द जी की

समस्त रचनाओ को मिलना अनिवार्य है। इस प्रकार प्रेमचन्द जी हिन्दी के एक साधारण कहानी व उपन्यासकार हैं, ऐसा जोशी जी ने अपना मत व्यक्त किया है। जोशी जी ने इस लेख में ऐसे विचार व्यक्त किये हैं, जिनसे सब का सहमत होना कठिन सा प्रतीत होता है।

प्रश्न—प्रगतिवाद का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

उत्तर—सामान्य विचार-पद्धति में जिसे साम्यवाद कहते हैं, वही साहित्यिक रूप ग्रहण करने पर 'प्रगतिवाद' के नाम से पुकारा जाता है। यो स्थूल रूप से इसका जन्म १९३५ में यूरोप में तथा सन् १९३६ में भारत में हुआ। इसी वर्ष श्री प्रेमचन्द जी के सभापतित्व में प्रगतिशील लेखको का एक सम्मेलन हुआ था। प्रगतिवाद कोई एक अद्भुत या जन-सामान्य के लिए गुह्यवाद नही, प्रत्युत वह तो साधारण जनता के हृदय ही की पुकार है। आज पूंजीपति श्रमिको के शोणित का शोषण कर स्वय सम्पूर्ण सम्पत्ति को हड़प लेना चाहता है। फलत परिश्रम करने वाले को अपने श्रम का पूरा फल दिलाने के लिए और प्रत्येक व्यक्ति से पूरा परिश्रम लेने के लिए ही साम्यवाद का प्रचार हुआ है। पिछले १५–२० वर्षों से साहित्य में भी ये ही विचार उत्तरोत्तर प्रमुख पद प्राप्त करते जा रहे हैं। इससे पूर्व साहित्य छायावाद की छाया में सुख-स्वप्न देख रहा था। उसमें व्यक्ति की आशा, अभिलाषा, निराशा और वेदना तो अवश्य व्यक्त हो रही थी, किन्तु उसमें समाज के सुख-दुखो को कही स्थान न था। छायावादी रचनाओ ने खडी बोली के अक्खड़पन को दूर कर कविता के लिए कोमलकान्त पदावली तो प्रस्तुत कर दी, पर वह सस्कृत के सुललित पदो पर आश्रित होने के कारण जन-सामान्य की पहुँच के परे की वस्तु बन गई। फलत· कार्लमार्क्स के दार्शनिक सिद्धान्तो के आधार पर प्रगतिवाद पनपने लगा। यूं साहित्य में सदा कोई-न-कोई दार्शनिकवाद प्रधान रहता है। अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि सभी पुराने दार्शनिक सिद्धान्त मनुष्य को आत्म-चिन्तन या भक्ति में

लगाने वाले हैं। वे उसे ससार से दूर भगाते हैं, पर मार्क्स का दर्शन मनुष्य में ससार को बदलने और उसे अनुकूल बनाने की भावनाएं भरता है। इसलिए प्रगतिवादी कहता है कि 'हमें परलोक नही प्रत्युत इस लोक को सुधारना है' और साहित्य के द्वारा स्वर्गीय सगीत नही सुनाना, प्रत्युत कविता में इसी मनुष्य-लोक की कहानी कहना है। आदर्शो या धार्मिकता में पडकर अपने दु ख-दैन्य और दोषो की दुर्गन्ध को अन्तर में ही नही सडने देना, प्रत्युत अपनी सब विकृतियो को प्रकट कर स्वच्छ वातावरण प्रस्तुत करना चाहिए। कवि को केवल अप्सराओ के नूपुरो के सरस रव में ही तन्मय न होकर दीन-दु खी और दलितो की कष्ट-कथा कहने और सुनने के लिए तत्पर हो जाना चाहिए। बालकृष्ण शर्म्मा 'नवीन', भगवतीचरण वर्मा, उदयशकर भट्ट आदि की रचनाओ में ऐसी ही भावनाएँ भरी हुई हैं। प्रगतिवादी की दृष्टि में ससार की सामन्तशाही का इतिहास एक अत्यन्त ही तुच्छ और गलित युग का प्रतिनिधित्व करता है। प्रगतिवादी सुधार में नही, बल्कि नव-निर्माण में विश्वास रखता है। बालकृष्ण शर्म्मा नवीन की—

'कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाए'

इत्यादि कविता प्रगतिवाद के विचारो को ही प्रकट करती है।

गा कोकिल वर्षा पावक कण, नष्ट-भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन।
पावक पग धर आवे नूतन, हो पल्लवित नवल मानवपन॥

पत की इस रचना में भी प्रगतिवाद स्पष्ट लक्षित होता है।

प्रश्न—छायावादी और प्रगतिवादी रचनाओ में क्या अन्तर है, सोदाहरण स्पष्टकीजिए।

उत्तर—छायावादी कवि अपने ही सुख-दु ख के रोने रोता है और वह समाज को भी अपने आँसुओ की धारा में तर कर देना चाहता है। वह स्वय समाज की करुणा के प्रवाह में नही बहता, प्रगतिवादी समाज के सुख-दु खो को अपना सुख-दु ख समझता है।

बच्चन निशा-निमन्त्रण, एकान्त संगीत, आदि में संगृहीत—

'मैंने भी जीवन देखा है, अखिल विश्व था आलिंगन में।'

आदि कविताओ के द्वारा अपने ही भावो या अभावो को समाज की अनुभूति में उतारना चाहता है। किन्तु आगे चल कर वही बच्चन 'बगाल के अकाल में पूरे प्रगतिवादी के रूप में प्रकट होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ एक ओर छायावादी कवि आत्म-चिन्तन में विश्व-चिन्तन का अनुभव करता है, वहाँ प्रगतिवादी कवि-चिन्तन में ही अपनी आत्मा की पुकार सुनता और सुनाता है। छायावादी सुकोमल और रसिक कवि अत्यन्त कोमलकान्त पदावली में अपनी मृदुल तूलिका से अत्यन्त पेशल चित्र अकित करता है। उसकी भाषा और भावनाएँ छुई-मुई से भी कोमल प्रतीत होती हैं। इसीलिए यदि वह कही समाज की जर्जर अवस्था का चित्र खीचता भी है तो भी भाषा को पेशलता के कारण उसमें सजीवता और वास्तविकता नही आ पाती। पत जी के 'परिवर्तन' की अनेक पक्तियाँ पल्लव के समान कलित कोमल होने के कारण परिवर्तन के उद्दाम और विकट ववण्डरो से परिपूर्ण प्रचण्ड रूप का स्पष्ट चित्रपट नही अकित कर पाती। इसके विपरीत जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द आदि प्रगतिवादी कवियो की भाषा आवश्यकतानुसार यथा-समय विकट भावो को प्रकट करने के लिए सुदृढ और कठोर रूप धारण कर लेती है। प्रगतिवादी नवीन सृष्टि का निर्माण चाहता है। इसलिए वह समाज के रूढि-बन्धनो के साथ भाषा, भाव, छन्द आदि के साहित्यिक बन्धनो को भी तोड फेंकना चाहता है। अपने विचारो को मूर्त्त रूप देने के लिए वह वह पुरानी उपमाओ और रूपको के चक्कर से निकल कर मशाल, ताडव, प्रलय आदि नई-नई उपमाओ का प्रयोग करता है।

प्रश्न—प्रगतिवाद के गुण-दोषो तथा लाभ-हानियो पर संक्षिप्त विचार प्रकट कीजिए।

उत्तर—इस प्रकार प्रगतिवादी पीडितो की कष्ट-कथा कह कर तथा दलितो के दुःख-दैन्य का दर्शन कराकर समाज में क्रान्ति उत्पन्न कर

देना चाहता है—एक उथल-पुथल मचा देना चाहता है। किन्तु ऐसा करते हुए वह अनेक आवश्यक और जनहित के लिए उपयोगी तत्वो को ठुकरा देता है। जैसे कि वह अपनी प्राचीन आर्य सस्कृति से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद कर रवीन्द्र के रहस्यवाद और गांधी के रामराज्य से भी घृणा करता है। सामन्तशाही के नाम पर या विलासिता की कथा कहकर वह वाल्मीकि और कालिदास के रामायण और अभिज्ञान-शाकुन्तल सरीखे काव्यो को भी तिरस्कृत करने का साहस करता है। वह यथार्थवाद के नाम पर भाई-वहिन का पारस्परिक वासनात्मक प्रेम दिखाने में भी सकोच नही करता। समाज के हेय अशो के प्रदर्शन में यह गौरव का अनुभव करता है। वह समाज के निम्नवर्ग को प्रोत्साहित कर उच्चवर्ग के प्रति घृणा के भाव फैलाता है, और इस प्रकार वर्ग-विद्वेष के बीज बोता है। प्रगतिवादी कलाकार स्वय तो विलासिता का पुतला और बडा ही छैल-छवीला है, पर पाखड रचता है दु खियो की करुण-कथा कहने का। वह अपने भारतीय भाइयो की भावनाओ को छोडकर रूस के लैनिन और स्टालिन के गीत गाता फिरता है। इस प्रकार आधुनिक प्रगतिवाद के दोष दिखाये जा सकते हैं। यूँ तो दरिद्र-नारायण के दु ख-दैन्य का वर्णन करने और दलितो को उत्थान की ओर ले जाने की वात को भला कौन अच्छा नही कहेगा। पर किसी वाद-विशेप के वन्धन में वन्धकर या किन्ही सिद्धान्तो का प्रचार करने के लिए या फैशन के नाते अपनी सम्पूर्ण प्राचीन परिपाटियो का प्रत्याख्यान कर नूतनता के राग अलापना तो उपयुक्त नही। नवीन और प्राचीन, श्रीमन्त और श्रमिको का समन्वय करा देना अधिक हितकर है, बजाय इसके कि हम दोनो को भिडाकर इन दोनो का ही सर्वनाश कर डालें। ऐसी समन्वय-मूलक भावनाएं तथा पूंजीपतियो के अत्याचार के विरुद्ध प्रति-क्रियाएं हिन्दी-साहित्य में सदा से प्रकट होती रही हैं। कवीर, तुलसी, भूपण, भारतेन्दु वावू हरिश्चन्द्र, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, रामनरेश त्रिपाठी आदि भारतीय सस्कृति के उपासक कविगण सदा से प्रगतिवादियो

की श्रेष्ठताओ को स्वीकार करते रहे हैं। पर इनके दोषो से भी वे सदा बचे हैं। इसलिए रूसी साम्यवाद पर आधारित प्रगतिवाद के रूप को तिलाञ्जलि देकर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओ को चित्रित करने वाले और सामाजिक विषमताओ के प्रति विरोध प्रकट करने वाले प्रगतिवाद का प्रचार इस समय परमावश्यक है, इसमे कुछ सदेह नही।

प्रश्न—(क) उपन्यासकार में कौन से गुण की आवश्यकता है ? प्रेमचन्द के आधार पर प्रकाश डालते हुए बताइए कि सफल उपन्यास किसे कह सकते हैं ?

(ख) प्रेमचद की दृष्टि मे यथार्थ कहाँ तक ग्राह्य है ? 'यथार्थ' का अभिप्राय क्या है ? यथार्थ की दृष्टि से भावी उपन्यास का क्या रूप होगा, उत्तर दीजिए।

(ग) प्रेमचद ने उपन्यासों में किस कमी की ओर ध्यान दिलाया है ? उन कमियों के लिए क्या-क्या सुझाव दिए हैं ? युक्तियुक्त उत्तर दीजिए।

उत्तर—प्रेमचद उस युग के उपन्यासकार थे जिस युग में उपन्यास-कला आज की तरह उत्कर्ष की ओर नही थी। वह युग तिलस्मी, जासूसी उपन्यासो का था। प्रेमचद ने उपन्यासो मे सत्य का उद्घाटन किया। अपने "उपन्यास का विषय" नामक निबध मे उपन्यासकार के गुणो पर प्रकाश डाला है। क्योकि उपन्यास का क्षेत्र विस्तृत होता है। इस विस्तार को उपयोगी और सुन्दर बनाने के लिए लेखक में सृजन-शक्ति का होना आवश्यक है। कल्पना-शक्ति होने से लेखक में अभिव्यक्ति का गुण भी आ जाता है। लेखक अपनी कल्पना-शक्ति के द्वारा एक ऐसा चित्र खीचता है कि पाठक उसे स्वानुभूति अनुभव करता है।

लेखक को उपन्यास लिखते समय रचना-शैली को सजीव तथा प्रभावशाली बनाना चाहिए। परन्तु रचना-शैली सजीव और प्रभावशाली तभी होती है जब कि लेखक शब्दाडम्बर के चक्कर में न फँसे। बडे-बडे गूढ

शब्द देखकर पाठक एक बार प्रभावित अवश्य हो जाएगा परन्तु वास्तविक स्थिति से अपरिचित होने के कारण स्थायी प्रभाव नही रख सकेगा। इसलिए सरल शब्दावली और गहराई लेखक का प्रधान गुण है।

उपन्यास में कथा होती है। एक प्रधान कथा के साथ और उपकथाएँ भी जुडी रहती हैं। मगर लेखक को घटना-क्रम तोडना नही चाहिए। कथा का क्रमिक विकास ही ऐसा होना चाहिए कि लेखक को अपनी ओर से कुछ न कहना पडे। चाहे उपन्यास में लेखक कितना ही स्वतन्त्र हो, फिर भी इस क्रमिक विकास की ओर ध्यान देना अत्यत आवश्यक है। यदि लेखक स्वय व्याख्या करने बैठ जाता है तो पाठक के रसास्वादन में बाधा पड जाती है। लेखक का एक गुण यह भी है कि पाठक की रसानुभूति को उत्तरोत्तर रसयुक्त बनाता रहे।

यो तो जीवन असीम है और किसी भी अग को लेकर उपन्यास लिखा जा सकता है परन्तु उपन्यास के विषय का महत्त्व और उसकी गभीरता भी देखनी चाहिए। यह तो आवश्यक नही कि कोई अलौकिक चरित्रनायक द्वारा ही हम उपन्यास में चरित्र-विकास दिखलाएं। जीवन अनत है, व्यापक है। परन्तु फिर भी लेखक को ऐसे भावो का चित्रण करना चाहिए जिससे पाठक का हृदय जागृत होजाए। पात्रो के भावो में और पाठक की अनुभूति में तादात्म्य होजाए। साधारण स्थिति में प्राय मनुष्य उतना भावुक नही होता जब तक कि उसमें छिपे भावो को प्रकट करने के लिए विशेष स्थिति उत्पन्न की जाए। उदाहरण के लिए राष्ट्रभक्ति जगाने के लिए यदि महात्मा गाधी के कष्टो का वर्णन किया जाय तो निश्चय ही पाठक के हृदय में सहानुभूति जागृत होगी। तीव्रता लाने के लिए यह आवश्यक है कि लेखक परिस्थिति और वातावरण के चित्रण पर ध्यान दे।

इसी प्रकार वार्तालाप है। उपन्यास में वार्तालाप किसी चरित्र की स्पष्टता के लिए आने चाहिए। ये वार्तालाप स्वाभाविक, सरल, सूक्ष्म

होने चाहिएं। जो चरित्र जैसा हो उसकी भाषा भी वैसी ही होनी चाहिए। उपन्यास का अत किस प्रकार होना चाहिए, यह भी विचारणीय है। उपन्यास का अत स्वाभाविक होना चाहिए। क्योकि इसी का प्रभाव पाठक पर अधिक पड़ता है। लेखक जो चाहते हैं अत रखते है परन्तु यह अत सोद्देश्य होना चाहिए।

अब प्रश्न यह उठता है कि यथार्थ कहाँ तक होना चाहिए। अभी-तक आलोचक निर्विवाद यह नही कह पाए हैं कि साहित्य में दुष्प्रवृत्तियो, दुर्भावनाओ का चित्रण होना चाहिए या नही। प्रेमचद जी आदर्शवादी विचारधारा से प्रभावित थे। इसलिए उनके मत में लेखक को इन प्रवृत्तियो में नही बँधना चाहिए। लेखक का कर्तव्य है कि वह सत् और असत् के सघर्ष का चित्रण कर सत्य की विजय दिखलाए। यथार्थ का अभिप्राय यह नही है कि अपनी दृष्टि पाप और असत् की ओर केन्द्रित करो, यदि ऐसा होगा तो सिवाय इन कुवासनाओ के और कुछ नही सूझेगा। मानसिक अशाति सद्भवनाओ की प्रेरणा से दूर होती है। केवल बुराइयो के चित्रण से बुराई दूर नही होती। बुराई दूर तव होती है जव बुरे व्यक्ति में अच्छाई की खोज करते हैं कि एक बुरा यक्ति भी अच्छा हो सकता है। क्योकि उसमें अच्छाई के गुण हैं उन्हें केवल जगाने की आवश्यकता है। यही कारण है कि आलोचक साहित्य में सत्य के साथ सुदर की आवश्यकता भी अनिवार्य बताते हैं। आज के उपन्यासकार कुकर्म, हत्या और चोरी के चित्रण में यथार्थ की प्रतिष्ठा करते हैं। ऐसे कुरुचिपूर्ण उपन्यासो से समाज के नैतिक पतन का ही आभास होता है। ऐसी-ऐसी घटनाएँ समाज को उत्थान की ओर नही ले जाती। ऐसे कुरुचिपूर्ण साहित्य के प्रचार का फल एक ऐसे वातावरण को जन्म देता है जिसमें कुकर्म की प्रवृत्ति दृढ होती है। इसलिए उपन्यास में चरित्र का विकास स्पष्ट, गहरा और स्वाभाविक होना चाहिए। चरित्र का विकास जितना स्वाभाविक होगा उतना ही प्रभावशाली। जिस तरह एक व्यक्ति का चरित्र सहसा स्पष्ट नहीं होता, उसी तरह घटनाओ के

साथ चरित्र का विकास होना चाहिये । आधुनिक उपन्यासो में यह एक प्रकार की कमी पाई जाती है ।

चरित्र के विकास के लिए प्रेमचद जी ने सुझाव दिया है कि लेखक को चाहिए कि उपन्यास प्रारभ करने से पहले चरित्रो का एक मानसिक चित्र बना लिया जाय । परिस्थिति के अनुसार इस प्रकार विकास हो कि लेखक और पाठक सहमत हो । इससे यह लाभ होगा कि चरित्रो में समानता नही होगी । क्योकि शकल-सूरत का अतर नही, चरित्र मे अतर होने पर विकास के लिए स्थान होता है ।

उपन्यास की सफलता इसमें है कि पाठक उसे समाप्त करने के वाद अलौकिक आनद का अनुभव करे और उसके हृदय में सात्विक भावो का उदय हो । यह तभी सभव है जव लेखक जीवन को समीप से देखे । जिसने जीवन मे उत्थान-पतन, हर्ष और विषाद, सपत्ति और विपत्ति का सामना किया है वही लेखक साहित्य के द्वारा एक महान् जीवन की आदर्श रूपरेखा प्रस्तुत कर सकता है ।

समय परिवर्तनशील है । युग की रुचि बदल रही है । अब लेखक चरित्र की कल्पना नही करता उसका चित्रण अनुभूतियो के अधार पर होता है । आजकल बहुधा उपन्यासो में परिस्थितियो का ऐसा क्रम वांधते हैं कि अत स्वाभाविक होने पर भी वह होता है जो लेखक चाहता है ।

प्रेमचद के शब्दो में "भावी उपन्यास जीवन-चरित्र होगा । मनुष्य की छुटाई-वडाई का फैसला उन कठिनाइयो से किया जाएगा जिन पर उसने विजय पाई है । अभी हम झूठ को सच वनाकर दिखाना चाहते हैं भविष्य में हमें सच को झूठ वनाकर दिखाना होगा । किसान हो, देशभक्त हो, पर उसका चरित्र-चित्रण यथार्थ का आधार लेकर होगा । इससे मनोविज्ञान के रूप में वहुत सी वडी कठिनाइयो का सामना करना होगा ।"

प्रश्न (क) आधुनिक हिन्दी साहित्य में जीवन के प्रति कौन-सा दृष्टिकोण अपनाया जा रहा है ? लेखक की विचार-धारा स्पष्ट कीजिए ।

(ख) 'हमारी आधुनिक दृष्टिभगी यूरोपियन संसर्ग का फल है' इस उक्ति की प्रामाणिकता को सिद्ध कीजिए और बताइए कि आप इससे कहां तक सहमत हैं ?

(ग) हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार आधुनिकतम साहित्य से क्या आशा है ?

उत्तर—श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी आज के इस आलोचना-युग के सुलझे हुये विचारवान् समालोचक हैं। आज की साहित्यिक गति-विधियो को देखने से पूर्व हम जब जीवन पर दृष्टि डालते हैं तो उसके अनेक रूप दिखाई देते हैं। चूंकि जीवन के विविध रूप हैं, इसी प्रकार साहित्य के भी अनेक रूप दृष्टिगोचर हो रहे हैं। आज के साहित्यिक की दृष्टि अपने तक सीमित नही है। वह अब अपने व्यक्तिगत सुख-दु ख ससार में गूंथकर देख रहा है। पारस्परिक समन्वय का प्रभाव यह है कि आज प्राचीन रूढियो से मुक्त होते जा रहे हैं। जब हम साहित्य के दृष्टिकोण पर विचार करते हैं तो हम जिस साहित्य पर विचार कर रहे हैं उस देश की भौगोलिक स्थिति पर भी विचार कर लेना चाहिए। यद्यपि सर्वथा इस प्रकार निश्चय रूप से नही कहा जा सकता कि भौगोलिक परिस्थितियाँ ही केवल मात्र कारण होती हैं। फिर भी किसी सीमा तक यह सत्य है—उदाहरणस्वरूप द्विवेदी जी ने भारत और साइवेरिया को उपस्थित किया है। उसमें कोई सदेह नही कि भारतीय साहित्य उष्ण-कटिवध देश होने के कारण अपने में एक विशेपता रखता है—जैसे काल्पनिकता, आलस्य, परलोक प्रवणता आदि-आदि। क्योकि भौगोलिक परिस्थिति का हृदय पर प्रभाव अवश्य होता है। उसके विपरीत साइ-वेरिया के साहित्य में कल्पना आदि का अभाव होगा क्योकि शीत कटि-वध देश है। वहां का जीवन प्रकृति से सघर्प करने में वीतता है। यह सब कुछ होने पर भी केवल यही कारण नही—मानसिक विकास उसमें विशेप कारण है। क्योकि ऐसी कोई वात नही जो कि केवल भारत में हो, कही और न हो—भले ही उसका रूप दूसरा हो। धार्मिक उपदेशक

इसे अपने ही देश की विशेषता मानें, परन्तु इतिहास का अध्ययन करने से पता चलेगा कि सभी देश अपना एक विशेष महत्व रखते है।

समस्त हिन्दी साहित्य के विकास-क्रम पर दृष्टि डालिए भिन्न-भिन्न प्रवृतियो से प्रभावित साहित्य मिलेगा। आधुनिक काल से पूर्व रीतिकालीन नागरिक रचनाओ का युग था। राजनैतिक और सामाजिक कारणो से जैसे ही रीतिकालीन परम्पराओ की इतिश्री हुई कि कवियो ने उस साहित्य की ओर उपेक्षा, विरोध और अज्ञान की दृष्टि से देखा। हिन्दी कवियो पर अग्रेजी के कीट्स, बायरन, शैले, वर्डस्वर्थ का प्रभाव पडने लगा। फलस्वरूप हिन्दी में 'रोमाटिक स्वर' गूजने लगा। यह स्वर धीमा पडा असहयोग आन्दोलन के बाद। इस युग के कवियो ने बाह्य अनुभूति को अपने अतर के योग में पाया। अपनी इच्छा, कल्पना और सुख-दु खा-त्मक अनुभूति में गूंथकर इस ससार को देखा। भौगोलिक परिस्थिति के अनुसार वैयक्तिकता प्रधान हो गई। कविगण अपनी कल्पना से एक परोक्षलोक में विचरने लगे। उन्हें ससार का ध्यान ही नहीं रहा। उनकी व्यक्तिगत कुठाएं प्रकृति के मनोहर आंगन में नृत्य करने लगी। किसी ने इन्ही कुठाओ को रहस्य के धूमिल आवरण में छिपाकर व्यक्त किया। कल्पना, कोमलता, भावप्रवणता, रहस्यात्मकता इस साहित्य की विशेपताएं कही जा सकती हैं। परन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि इसमें व्यक्तिगत अनुभूतियाँ ही प्रधान रूप से अभिव्यक्त हुई।

इस भावुकता की प्रतिक्रिया होना भी निश्चित था। अत्यत आधुनिक-तम कवियों ने इस भावुकता को नही सराहा। उसने आत्मनिरपेक्ष दृष्टि को महत्व दिया, अर्थात् अपने से पृथक् करके वस्तु की सत्ता परखना ही इसकी कसौटी बन गया। इसी कारण ऐसे साहित्य में अपनापन नही। द्रष्टा उस वस्तु के प्रति आसक्त नही होता, अनासक्त और तद्गत भाव से ही उसे देखता है। यह दृष्टि आधुनिक दृष्टिकोण से इस जगत् को देखने का प्रयत्न है। यद्यपि इसके मूल में आर्थिक परिस्थितियाँ बहुत कुछ कारण थी, फिर भी सर्वाधार वही हो, ऐसा नही कहा जा सकता।

इस दृष्टिकोण की सबसे बड़ी विशेपता यह है कि इसमें जगत् को सत्, असत् के प्राचीन सस्कारो से मुक्त और बुद्धि के द्वारा देखा गया।

जो आज हिन्दी साहित्य का सर्वांगीण अध्ययन करते हैं वे यह निस्सदेह मानेगें कि आज के समस्त साहित्यिक दृष्टिकोण यूरोप से प्रभावित हैं। यह हमारे यहाँ ही नही, हर देश में हुआ है। यूरोप के इतिहास को देखने से पता चलता है कि युग-परिवर्त्तन और विचार-परिवर्त्तन के समय वहाँ उन्नायको को कैसे कष्ट सहने पडे, इपटनिकस आदि के उदाहरण सामने हैं। हमारी तरह वहाँ भी धार्मिक और आध्यात्मिक कल्पनाएँ तथा पौराणिक विश्वास पनप रहा था। इस विचारात्मक क्राति ने एक बहुत बडा धक्का इन विश्वासो को पहुँचाया। धीरे-धीरे ईश्वर भी इस लपेट में आगया। लोग एक प्रकार से चाहे यह मानने न लगे हो कि ईश्वर नही है परन्तु सन्देह अवश्य होगया है उसके अस्तित्व में। इस दृष्टि से इसे नास्तिकता-प्रधान युग ही कहा जा सकता है। यह भी साथ-मानना पडेगा कि इस विज्ञान ने जहाँ मनुष्य को नास्तिक बनाया है वहाँ आत्म-विश्वासी भी। ससार की वास्तविकता से दूर आदर्शवादी विचार-धारा भग्न होगई। आज का सब से बडा सत्य मनुष्य है। इस सत्य की अभिव्यक्ति के लिए कवियो ने आत्म-सापेक्ष दृष्टि अपनाई। उसे अपने में सब कुछ दिखाई देने लगा। अब वह पहले की तरह आत्म-निरपेक्ष नही रहा।

किसी युग की प्रधान विचारधारा एक सत्य को लेकर चलती है। उस सत्य का द्रष्टा कोई व्यक्ति होता है। मार्क्स और फ्रायड दो ऐसे ही प्रतिभावान् विचारक हुए जिन्होने जगत् को देखने का 'तौर' ही बदल दिया। कार्लमार्क्स ने समाज के उस अग की ओर देखा जिसे खाने को रोटी और पहनने को कपडा नही मिलता। धर्म और नीति के नाम पर उनका शोषण हो रहा है। शुद्ध भौतिक दृष्टि से उसने सामाजिक क्राति को जन्म दिया। इसी मार्क्सवाद का साहित्यिक सस्करण प्रगतिवाद वाद है। फ्रायड ने मनोवैज्ञानिक ढग से मन के दो भाग किए—चेतन मन

ग्रौर ग्रवचेतन मन । फ्रायड ने बताया कि मनुष्य ग्रवचेतन द्वारा पहचाना जा सकता है। उसके विचार में मनुष्य वैसा नही है जैसा दीख रहा है—वह वैसा है जैसा कि ग्रपने ग्रापको चेष्टापूर्वक दिखाना नही चाहता। इन दोनो विचारधाराग्रो से ग्रादर्शवाद का घरातल ढह गया। ग्राज हम समस्त काव्य-साहित्य पर ग्रौर ललित-कलाग्रो पर इन्ही विचार-धाराग्रो का प्रभाव देख रहे हैं। किसी भी साहित्य में मनोविज्ञान का यही रूप है। ग्रन्यथा ग्रादर्शवादी कभी 'शेखर' के उस चरित्र का मनो-वैज्ञानिक ग्रध्ययन करने में प्रसन्नता ग्रनुभव करता जहाँ उसने ग्रपनी वहिन सरस्वती में ही वासना के दर्शन किये। फ्रायड के विचार ग्रब काफी ग्रागे तक पहुँच गए हैं। यही कारण है कि हमें ग्रपना पिछला साहित्य थोथा दिखाई देता है—कला का बाँझपन प्रकट होता है।

जब विचारधारा बदल जाती है तो ग्रभिव्यक्ति का रूप भी बदल जाता है। ग्राज के साहित्य में भाषा ग्रौर शैली के रूप भी बदले हुए नज़र ग्राते हैं। ग्रभिव्यक्ति के विषय में भी ग्राश्चर्यजनक परिवर्तन हो गया है। यही कारण है कि समुद्र ग्रौर सूर्य की तरह मेंढक ग्रौर 'कुकर-मुत्ते' भी साहित्य के विषय बन गए हैं।

इस नए दृष्टिकोण का एक नया रूप ग्रौर है। वह यह है कि दृश्य ग्रौर द्रष्टव्य जिन्हे हम ग्रौर उपायो से समझते थे वे सभी कलाएँ, साहित्य-ग्रध्ययन के योग्य विषय नही रह गए, न साध्य ही, बल्कि साधन हो गए हैं। भाव यह है कि इनके द्वारा हम किसी ग्रौर वस्तु को समझने में प्रयत्नशील हैं। वह 'ग्रौर' क्या है ? वह है 'जीवन'। हम समस्त साहित्य ग्रौर कलाग्रो का ग्रध्ययन इसलिए करते हैं कि गहराई से इस जीवन को समझ सकें। यह जीवन ग्रनन्त है, ग्रगाध है, ग्रपार है। इस जीवन की राह भिन्न-भिन्न मोड लिए हुए है। साहित्य ग्रादि के द्वारा हम उसकी खोज करते हैं। ग्राज के दृष्टिकोण के ग्रनुसार वह स्वय हेय, गभीरता या विशदता नही है। भाव यह है कि ग्राज का साहित्यकार, ससार के पीछे चल रहा है। ग्रब वह शक्ति उसमें नही है कि ससार

उसके पीछे चले। आज का साहित्यकार संसार की रुचि देखकर लिखा जा रहा है।

प्रश्न (क) 'मूल्य' का क्या अर्थ है ? साहित्य में 'मूल्य' का क्या तात्पर्य है ? विवेचन कीजिए

(ख) सत्साहित्य किसे कहते हैं और उसका क्या मूल्य है ? उत्तर दीजिए।

(ग) 'साहित्य जीवन के व्यापक क्षेत्र में विविधता में एकता स्थापित करने वाले विकासवाद के लक्ष्य को चरितार्थ करता है' इस कथन की व्याख्या करते हुए समझाइए कि वह कौन-सी समन्वयात्मक भावना है।

उत्तर—बाबू गुलाबराय इस युग के प्रसिद्ध आलोचक हैं। उनके निबन्धो में सरल बोधगम्यता और विषय की गहराई की सरसता और सरलता से समझाने तथा सार रूप में सिद्धान्तो के प्रतिपादन की सहज क्षमता है। इस निबन्ध में भी साहित्यक मूल्यो का व्यापक विवेचन किया है। 'मूल्य' शब्द का क्या अर्थ है ? इस दृष्टि से मूल्य का अर्थ कुछ भी हो—परन्तु आर्थिक मूल्य साहित्य में अपेक्षित नही। यदि है भी तो वाह्य दृष्टि से। अग्रेजी में 'वैल्यू' मेरे विचार से आर्थिकता से ऊपर उठ गया है। जब हम किसी वस्तु का आर्थिक दृष्टि से मूल्य आकते हैं तो 'वैल्यू' न कह कर 'कॉस्ट' कहते हैं। इसीलिए हमारे यहाँ प्राचीन आचार्यो ने 'प्रयोजन' शब्द का व्यवहार किया है। कलावादियो की दृष्टि में 'प्रयोजन' तथा 'मूल्य' दोनो शब्द ही अधम हैं। परन्तु ऐसे ही नही—हमें यह विचार कर लेना आवश्यक है कि इस 'मूल्य' का अर्थ निकालने से हानि है या लाभ ! यदि हम व्यावहारिक दृष्टि से देखें तो मूल्य का अर्थ स्पष्ट यह है जो हमारी आवश्यकताओ की पूर्ति करे। दूसरे शब्दो में हमारे जीवन के लिये उपयोगी सिद्ध हो। बहुत-सी ऐसी वस्तुएँ हैं जो हमारे लिए व्यर्थ हैं, परन्तु दूसरो के लिए मूल्यवान हैं। जब हम बाजार में जाते हैं और किसी पुस्तक-विक्रेता की दुकान पर खडे होते हैं—मान लो हमारे बराबर ही

एक व्यक्ति और है जो बड़े गौर से एक किताब को देख रहा है जिसका मूल्य ५०) रु० है। हम वहाँ एक साधारण सी किताब खरीदने गये हैं—वह व्यक्ति वैज्ञानिक है और हम साहित्य में रुचि रखने वाले व्यक्ति। हमारे लिए उस पुस्तक का तब तक कोई मूल्य नही जब तक हम वैज्ञानिक नही होते या हमारा अध्ययन उतना विस्तृत न हो जितना कि उस पुस्तक के लिए अपेक्षित है। भाव यह है कि मूल्य का निश्चय हमारी उपयोगिता पर है। उपयोगिता आवश्यकता की दृष्टि से होती है। ये आवश्यकताएँ केवल भौतिक नहीं, आध्यात्मिक भी होती हैं। जो वस्तु हमारी मानसिक और आध्यात्मिक आवश्यकता को पूर्ण करे वह मूल्यवान् और उपयोगी ही कही जा सकती है। कलावादी भले ही उपयोगिता से दूर रहे, पर इसे मानने से कोई इन्कार नही कर सकता कि कला के द्वारा 'सौन्दर्यजन्य प्रसन्नता' की अनुभूति होती है। स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, सगीत और काव्य आदि ललित-कलाओ में यह सामर्थ्य उत्तरोत्तर है, इसीलिए एक-से-एक अधिक मूल्यवान् कहे जाते हैं। इस आनन्द की प्राप्ति के लिए अधिक-से-अधिक मूल्य देने को हम तैयार होते हैं। मीरां ने आध्यात्मिक आनन्द के लिए समस्त राजवैभव, लोक-मर्यादा सब कुछ छोड दिया। उस आनन्द का मूल्य यही था। उसकी दृष्टि में मुरली-मनोहर की मादक माधुरी में मन से तन्मयता अधिक मूल्यवान् थी। जिसके लिए जिस वस्तु की अधिक आवश्यकता होती है, उसके लिए वही अधिक मूल्यवान् है। यह मूल्य सापेक्ष है।

यह तो सभी जानते हैं कि मनुष्य जड नियमो से स्वच्छन्द नही है। चाहे मनुष्य अपनी बुद्धि से विज्ञान के चरम-विकास पर पहुँच जाए, पर यह तो निश्चित है कि भूख, प्यास आदि के नियमो से छुटकारा नही मिल सकता। समस्त जीवो के समान आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि उसके साथ भी लगे हैं। हाँ, इतना अन्तर है कि मनुष्य इन सब भौतिकताओं से बँधा हुआ होने पर भी मानसिक दृष्टि से और जीवो की अपेक्षा अधिक सशक्त, भावुक और अनुभूतिशील है। मानसिक पक्ष तो है ही

बाबू जी के शब्दो में "पेट तो होटल में भी भर जाता है, किन्तु प्रेम से परोसे हुए भोजन में कुछ सरसता, तुष्टि और शायद पुष्टि भी अधिक बढ जाती है। इसी कारण परम विरक्त गोस्वामी तुलसीदास को विनय-पत्रिका में रामनाम के सबन्ध में 'सुखद अपनो सो घरु है' कहना पडता था।" इन भौतिक आवश्यकताओ का सबन्ध मनुष्य के अन्नमय-कोष से है। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि केवल भौतिक आवश्यकताएँ पूरी होने पर भी मनुष्य अधूरा ही है। क्योकि मानव के साथ मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओ का भी सम्बन्ध है। प्राय यह देखा जाता है कि ससार में बहुत से मनुष्य ऐसे हैं जिन्हें सभी सुख-सुविधाएँ प्राप्त होती हैं फिर भी उन्हे मानसिक सन्तुष्टि प्राप्त नही। वे उस मानसिक असतोष से पीडित होकर ससार से विरक्त तक हो जाते हैं। इसका भाव यह है कि मानव को भौतिक आनन्द के अतिरिक्त मानसिक आनन्द भी प्राप्त होना चाहिए यही उसकी मनोवैज्ञानिक आवश्यकता है। इस आवश्यकता से उसके 'अह' को परितोष मिलता है। उसके व्यक्तित्व में प्रभावशीलता आती है। इससे एक लाभ और होता है और वह यह है कि मानव की आत्मा व्यष्टि से समष्टि की ओर प्रेरित होती है। उसके जीवन में न केवल अपने, वरन् समाज के सुख का भी महत्व बढ जाता है। यही सामाजिकता उसे आचार और नीति सिखाती है। वह अकेला होता है, मगर अनेको के लिए। इस एकता में अनेकता की भावना लोक-कल्याण की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण होती जाती है। एकता की चरम-सीमा होने पर उसमें आध्यात्मिकता आती है और 'एकोऽह बहुस्याम' (मैं एक से अनेक हो जाऊँ) में विलीन हो जाती है। इस आध्यात्मिक आधार पर आधारित एकता की भावना विज्ञानमय-कोष से सम्बन्धित है। आनन्दमय-कोष में जानने वाला, ज्ञान और जानने योग्य तीनो का समन्वय हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह तो स्पष्ट हो ही गया कि मनुष्य की मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओ की पूर्ति होना आवश्यक है। अब हमें यह देखना है इस आवश्यकता की पूर्ति किस प्रकार सभव है। इस दृष्टि से हम

साहित्य की ओर चले। साहित्य की अनेक परिभाषाएँ हैं। परन्तु व्युत्पत्ति की दृष्टि से यदि हम साहित्य को 'सहित का भाव' माने या 'हित के साथ सहित' माने तो हमारी अभीष्ट सिद्धि होगी। क्योंकि साहित्य का सबन्ध जीवन से है। बाबू जी ने दोनो प्रकार से साहित्य का मूल्य सिद्ध किया है क्योकि जीवन की भावात्मक अभिव्यक्ति साहित्य है। जो वस्तु जीवन मे मूल्य रखती है वह साहित्य में भी। साहित्य में हम इन्ही तत्वो को पाते हैं या उन तत्वो की व्याख्या को महत्त्व देते हैं जिनका हमारे जीवन मे कुछ मूल्य है। ससार में सबकी एक-जैसी प्रवृत्ति नही होती, इसीलिए उन तत्वो के चयन मे भी अन्तर पड जाता है। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो जीवन मे रोटी, कपडा, मकान आदि को महत्त्व देते हैं और कुछ फकीराना तबियत के होते हैं। बाह्य आवश्यकताएँ बहिर्मुखी और आन्तरिक आवश्यकताएँ अन्तरर्मुखी होती है। हमारे प्राचीन शास्त्रो में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार जीवन के तत्व हैं। साहित्य मे समन्वय होना चाहिए। यदि हमने किसी एक को छोड़ा या किसी एक के प्रति अधिक सम्मान प्रकट किया कि जीवन-नैया डोलने लगती है। क्योंकि इस नैया के लिए 'बैलेन्स' अर्थात् सतुलन आवश्यक है। बाबूजी ने इसी प्रसंग मे राम द्वारा भरत को उपदेश का जिक्र किया है। धर्म, अर्थ और काम का समन्वय ही जीवन में कल्याणप्रद हो सकता है। हमारा समस्त दर्शन जीवन के प्रति इसी समन्वयात्मक दृष्टिकोण को लेकर चला है। यही कारण है कि हमारे आचार्य, भामह, दडी, भरत आदि आचार्यो ने काव्य की अत्यन्त व्यापक परिभाषा प्रस्तुत की है। यदि हम साहित्य को इसी व्यापक दृष्टिकोण से देखें तो हमारा अभिप्राय सिद्ध हो जायगा। सत्साहित्य वही है जिसमे इस समन्वयात्मक भावना के दर्शन होते हैं। साहित्य के द्वारा हमारा आत्मपरिशोध होता है। नीति, आचार और आध्यात्मिक मान्यताएं प्राप्त होती हैं। इससे साहित्य के 'धर्मपक्ष' की पुष्टि होती है। भौतिक और शारीरिक मान से साहित्य के अर्थपक्ष की पुष्टि होती है। इच्छाएँ, महत्वाकाक्षाएँ और कलात्मक सौन्दर्यमान साहित्य के 'कामपक्ष' की पुष्टि करता

है। इन तीनो पक्षो का समन्वय जहाँ है वह सत्साहित्य है। यदि किसी साहित्य में किसी एक पक्ष की ओर प्रवृत्ति अधिक मिलती है तो हम किसी सीमा तक उसे सत्साहित्य नही कह सकते; क्योकि उसमें जीवन के प्रति एकागी दृष्टिकोण है। यही साहित्य का हमारे जीवन में मूल्य है कि हम इस समन्वयात्मक भावना को पाते हैं और उससे लोकोत्तर आनन्द की प्राप्ति करते हैं। साहित्य हमारी गति है, प्रेरणा है, वल है, मानव-शक्ति है। इससे अधिक और किस वस्तु का मूल्य हो सकता है। यह मूल्य अमूल्य है, इसीलिए जीवन अमूल्य है और साहित्य भी अमूल्य है। जो जीवन का मूल्य है वही साहित्य का मूल्य है।

व्याख्यात्मक शैली में लिखा गया यह निवन्ध अत्यन्त सुगठित और सुन्दर है। लेखक ने व्यापक दृष्टिकोण अपनाया है और जीवन तथा साहित्य पर वडी ही उलझी हुई आलोचनात्मक दृष्टि डाली है। भाषा तो सदा ही वावूजी की सरस और सरल रहती है। सवसे वडी विशेषता इस निवन्ध की यह है कि गहरी से गहरी दार्शनिक गुत्थियाँ सरलता से सुलझाई गई हैं। प्रत्येक वाक्य में एक सार-तत्व है। जैसे—"अव प्रश्न यह है कि इनमें कोई सर्वप्रधान है कि जिसमें 'हाथी के पैर' के समान सवके पैर आजाएं या देवताओ के समान कोई छोटा-वडा नहीं'। साहित्य का मूल्य निर्धारित करते हुए वावूजी ने चेतावनी दी है—'कलाकार को यह स्वीकार करना पडेगा कि विना वस्तु के ढाँचे खोखले और निर्मूल्य होंगे। काव्य की आत्मा रस ही रहेगी, किन्तु उसका स्रोत रूढिवाद का अन्धकूप न होगा, वरन् जीवन का विशाल और गतिशील निर्झर होगा।'

प्रश्न—गीतिकाव्य की विशेषताओं का वर्णन करते हुए वताइए कि गीतिकाव्य को प्रमुख कितने और कौन-कौन से भागो में विभक्त किया जा सकता है?

उत्तर—गीति-काव्य में निम्न तीन विशेषताएं होती हैं—

१. वह गेय होता है। २ उसमें कवि की स्वानुभूति का प्रकाशन

होता है और उसमें कोमल भावनाएँ विशेषतया व्यक्त होती हैं। इन्ही तीनो विशेषताओ के कारण कहा गया है कि गीति-काव्य की ये तीनो प्रमुख विशेषताएँ काव्य के सभी रूपो में थोडी या बहुत मात्रा में अवश्य विद्यमान रहती हैं। नाटकीय कविता और प्रबन्ध-काव्य में भी प्रत्यक्ष रूप से नही तो परोक्ष रूप में ही सही, कवि की अपनी अनुभूति किसी न किसी अश में रहती ही है। जब कवि की अनुभूति गेय रूप में व्यक्त होती है तो उसे 'गीति-काव्य' कहते हैं। और जब दूसरे रूपों में व्यक्त होती है तो वह कविता के नये-नये रूप व नाम धारण कर लेती है। स्मरण रहे कि गेयता गीति की बहिरग विशेषता और स्वानुभूति और कोमल भावना अतरग। इसी आधार पर गीतिकाव्य को दो भागो में बाँटा जा सकता है—

१ शुद्ध-गीति, २ प्रगीत या मुक्तक गीति।

वास्तव में इन दोनो को भी 'कला-गीति' के अन्तर्गत रख सकते हैं। इस प्रकार गीति के दो मुख्य भेद हुए—

१. कला-गीति और २ ग्राम-गीति। कला-गीति के दो मुख्य भेद हैं—**१ शुद्ध गीति और २ प्रगीत।** प्रेम-गीति, करुण-गीति और जागरण-गीति आदि इनके अनेक भेद किये जा सकते हैं।

प्रश्न——विद्यापति, सूरदास आदि कृष्ण-भक्तो तथा निर्गुणिय सतों के गीतों में क्या अन्तर है? स्पष्ट कीजिये।

उत्तर——हिन्दी में गीतिकाव्य का प्रारम्भ भले ही जयदेव की परम्परा के आधार पर विद्यापति के द्वारा हुआ है। पर जैसी शुद्ध गीति-भावना कबीर आदि निर्गुणिय सतो के गीतो में मिलती है, वैसी सूर आदि कृष्ण-भक्त कवियो के गीतो में नही। बात यह है कि ये कृष्ण-भक्त कविगण राधा-कृष्ण आदि के मनोभावो या व्यापारो का ही गीतो में विशेष रूप से वर्णन करते रहे। उनके गीतो में अपनी अनुभूति का अश पर्याप्त नही है। इसके विपरीत कबीर आदि निर्गुणिय सतो के गीतो में

उनकी अपनी अनुभूति ही व्यक्त हुई है। मीराँ के काव्य में निर्गुण और सगुण भक्ति-धारा का समन्वय है, अतः उसके गीतो में भी स्वानुभूति का प्राधान्य है। गोस्वामी जी की 'विनयपत्रिका' भी स्वानुभूति-प्रधान शुद्ध-गीति का एक मध्यकालीन सुन्दर उदाहरण है। इस प्रकार सिद्ध होता है कि कृष्ण भक्तों के गीतो में स्वानुभूति की न्यूनता और निर्गुणियो में स्वानुभूति का प्राधान्य है। यही इन दोनो में अन्तर है। अत: निर्गुणियो के गीतो को 'शुद्ध-गीति' और कृष्ण-भक्तो के काव्य को 'प्रगीत' के अन्तर्गत रक्खा गया है।

प्रश्न—आधुनिक युग की गीति-भावना का संक्षिप्त विवेचन कीजिए।

उत्तर—परम्परा के परित्याग, स्वच्छता के प्रति आकर्षण, प्रकृति के प्रति प्रेम और यूरोपियन गीति-काव्य के सम्पर्क के कारण आधुनिक हिन्दी-साहित्य में गीति-भावना का प्रावल्य पाया जाता है। भारतेन्दु युग में लिखी गई देश-भक्ति सम्बन्धी कविताओ में स्वानुभूति-मूलक शुद्ध गीति-भावना ओत-प्रोत है। नवीन युग के प्रतिनिधि कलाकार 'दिनकर' की—

'मेरे नगपति मेरे विशाल'

आदि कविताओ में भी गीति-भावना प्रवल वेगवती है। इन देशभक्ति सम्बन्धी गीतो को 'जागरण गीति' का नाम दिया जा सकता है। दूसरी प्रेम-गीतियाँ हैं। इन प्रेम-गीतियों में भी कही मानव-प्रेम, कही देश-प्रेम, कहीं नारी-प्रेम आदि का प्राधान्य है। पत जी के यहाँ प्रकृति-प्रेम और नारी-प्रेम दोनो के सुन्दर रूप दिखाई देते हैं। भारतेन्दु से लेकर दिनकर तक के काव्य में देश-प्रेम भी खूब लहरा रहा है। निराला के यहाँ मानव-प्रेम सम्बन्धी गीतियाँ मिलती हैं। उनकी 'भिक्षुक' और 'विधवा' आदि गीतियाँ इसी मानव-प्रेम के कारण अभिव्यक्ति पा सकी हैं। पत जी प्रकृति के पुजारी हैं। पर—

"स्नेहमयि सुन्दरतामयि ।

तुम्हारे रोम-रोम से नारि, मुझे है स्नेह अपार ।

आदि पदों में उनकी नारी-रूप भावना मुखरित हो रही है। निराला के गीतों में गेयत्व और कवित्व खूब है। प्रसाद जी प्रकृति में मानव-भावनाओ का अनुभव करते हैं। महादेवी के गीतो में प्रकृति बडे ही सजीव रूप में उपस्थित हुई है। मध्ययुग में जैसे मीरां के काव्य मे शुद्ध गीति-भावना का प्रतिनिधित्व हुआ है, वैसे ही आधुनिक युग में महादेवी ने 'स्वानुभूति' और 'गेयतर' गीति-काव्य की ये दोनो विशेषताएं उनमें सर्वत्र व्याप्त हैं।

गीति-काव्य के नये प्रयोग भी हो रहे हैं, पर वे अभी इतने नवीन हैं कि उनके सम्बन्ध में कुछ साधिकार विवेचन नही किया जा सकता।

व्याख्या-लेखन प्रकार

यहाँ पर कुछ महत्त्वपूर्ण संदर्भो की व्याख्या दी जा रही है ताकि छात्रो को व्याख्या लिखने की विधि का ज्ञान हो जाय।

(१) तो क्या कला कला के लिए है ....यही हाल साहित्य का भी है। (पृष्ठ ३९)

व्याख्या—प्रस्तुत सदर्भ श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी के 'कला में जीवन की अभिव्यक्ति' शीर्षक लेख से उद्धृत किया गया है। लेखक ने पहले यह सिद्ध किया है कि कला, कला के लिए नही, प्रत्युत जीवन के लिए है। यदि कोई कला जीवन के लिए अहितकर है तो जीवन का यह पूछने का अधिकार है कि कलाकार ऐसी दूपित कला का प्रदर्शन क्यो कर रहा है। तव फिर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि तो क्या कला, कला के लिए की उक्ति सर्वथा निरर्थक है।

इसके उत्तर में कहा गया है कि नही, यह उक्ति सर्वथा निरर्थक नही। प्रत्युत इस उक्ति का उपयोग ऐसी परिस्थिति में किया जाना चाहिए जब कि समाज के समान साहित्य भी किन्ही परम्पराओ का इतिहास वन जाय। ऐसे समय में कलाकार ललकारता हुआ कहता है कि कला किन्ही रूढि-वन्धनो के लिए नही, प्रत्युत कला ही के लिए है। स्वयं रूढि—पाशो में जकडे हुए समाज को यह अधिकार नहीं कि वह कला को भी उसी प्रकार किन्ही अस्वाभाविक वन्धनो में जकड दे। कला के रुढि-वन्धनो में पडी रहकर सडती गलती नही रह सकती वह तो सदा प्रगति के पथ पर अग्रसर होती रहेगी।

(२) जिस प्रकार शरीर.......... ....यथार्थ का आदर्श। (पृष्ठ ४५)

व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियाँ श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी के '**कला में जीवन की अभिव्यक्ति**' 'शीर्षक निबन्ध से उद्धृत की गई हैं। कुछ यथार्थ-वादी कलाकार जो यथार्थ के नाम पर कुरुचिपूर्ण चित्रो को अंकित करने में गौरव का अनुभव करते हैं और कहते हैं कि हम जो कुछ अपनी कला के द्वारा भली या बुरी अभिव्यक्ति देते हैं, वह सर्वथा यथार्थ है। यथार्थ या सच्ची बात को कहने सुनने में किसी को कोई सकोच या आपत्ति नही होनी चाहिए। फिर ये आदर्शवादी लोग हमारे साहित्य में यथार्थ चित्रण को देख उस पर नाक-भौ क्यो सिकोडते हैं ?

इसके उत्तर में कहा गया है कि जैसे नग्न शरीर भी यथार्थ है, पर उसे वस्त्रो का आवरण चाहिए। वैसे ही कला का यथार्थ भी जब आदर्श के आवरण से अलंकृत होकर जनता के समक्ष आता है तभी वह ग्राह्य और उपादेय होता है। साहित्यकार तो एक फोटोग्राफर के समान यथार्थ चित्र अंकित करने वाला है, पर स्मरण रखना चाहिए कि फोटो-ग्राफर की कला की विशेषता भी इसी में है कि वह जिस वस्तु का चित्र खीचे उसके ऐसे सुन्दर पोज ले कि साधारण से साधारण वस्तु भी अत्यन्त सुन्दर प्रतीत हो। वैसे ही कलाकार को साहित्य में सत्य को ऐसी अभिव्यक्ति प्रदान करनी चाहिये जिससे वह सत्य सुन्दर प्रतीत होने के साथ ही साथ समाज के लिए शिव भी बन जाय।

(३) इस दृष्टि से देखने पर ···· ······सम्बन्ध में भी सत्य है।

(पृष्ठ १२८)

व्याख्या—यह सदर्भ डा० भगीरथप्रसाद मिश्र के '**हिन्दी में गीति-काव्य का विकास**' शीर्षक लेख से उद्धृत किया गया है। लेखक का कथन है कि शुद्ध गीति-काव्य के लिए स्वानुभूति, गेयता और कोमल भावना इन तीनो गुणो की नितान्त आवश्यकता है। जिन गीतों में स्वानुभूति नही, उन्हें हम 'शुद्ध गीति' की कोटि में नही रख सकते। उन्हें तो 'प्रगीत' कह सकते हैं। हिन्दी के मध्यकालीन सूरदास आदि कृष्ण-

भक्त कवियो ने अपने गीतो के लिए मूल प्रेरणा विद्यापति के माध्यम से, संस्कृत के कवि जयदेव के प्रसिद्ध 'गीत गोविन्द' से प्राप्त की है। पर क्योकि जयदेव, विद्यापति या सूरदास आदि अष्टछाप के कवियो ने अपने गीतों में स्वानुभूति को अभिव्यक्ति प्रदान कर राधा-कृष्ण आदि के कार्य-व्यापारो को चित्रित किया है, अतः उन्हें शुद्ध गीति-काव्य की कोटि में नही रखा जा सकता, वे तो प्रगीत ही कहे जा सकते हैं। हिन्दी के कृष्ण-भक्त गीतिकारो की परम्परा का मूल आधार सस्कृत के कवि जयदेव का गीत-गोविन्द काव्य है, पर चाहे गीत गोविन्द हो चाहे सूर-सागर, सभी मे कलाकार की स्वानुभूति के स्थान पर राधा-कृष्ण आदि के प्रणय-व्यापारो का ही प्राधान्य है। यही कारण है कि उन्हे शुद्ध गीति न कहकर प्रगीत कहा गया है।

(४) सम्यावस्था सामाजिक जीवन में उसी स्थिति का नाम है······ ·· ···विकास और वृद्धि का मुख्य साधन साहित्य है। (पृष्ठ १६–२०)

व्याख्या—प्रस्तुत सन्दर्भ बाबू श्यामसुन्दरदास के प्रसिद्ध निवन्ध **'समाज और साहित्य'** से उद्धत किया गया है। केवल अपने वैयाक्तिक सुख-दुःखो की चिन्ता या रक्षा का नाम ही सम्यता नही है। अपने साथ अपने समान राष्ट्र और सहयोगी वर्ग के हितो को ध्यान में रखते हुए उनके सुख-दुःखो, अभाव-अभियोगो, हानि-लाभ को भी अपने ही समान समझना और उनके प्रत्येक कार्य में मनोयोग देना ही सम्यता का पूर्ण चिन्ह है। समाज का प्रत्येक प्राणी एक-दूसरे पर आधारित रहता है। वह विना दूसरे की सहायता के कोई कुछ भी नही कर सकता। प्रत्येक व्यक्ति अपनी उन्नति या अवनति दूसरे के सहारे पर ही कर सकता है। सम्यता की इसी अवस्था का दूसरा नाम ही मनुष्य की बौद्धिक या मस्तिष्क की उन्नति है। जिस प्रकार शरीर को स्वस्थ, समुन्नत और दृढ बनाने के लिए शुद्ध जलवायु और पौष्टिक भोजन की आवश्यकता है, इसी प्रकार मस्तिष्क की उन्नति के लिए श्रेष्ठ साहित्य नितान्त आवश्यक है। उत्कृष्ट साहित्य के अध्ययन के बिना मस्तिष्क की उन्नति या बौद्धिक

विकास अथवा विचारो में दृढ़ता आ ही नही सकती।

वास्तव में बात यह है कि समाज भावी सन्तानो को या समकालीन सदस्यो को अपने पुस्तकाकार में जो स्थायी विचार देता है वे ही साहित्य कहलाते हैं। वे विचार मनुष्य को सदा उन्नति की ओर ले जाने वाले होते हुए अपने समाज की सामयिक भावनाओ के प्रतिविम्ब भी होते हैं। समाज के जव जैसे विचार होते हैं उस समय साहित्य भी वैसा ही बनता है। हमारे हिन्दी साहित्य का आरम्भिक रूप वीरगाथात्मक, मध्य-कालीन भक्ति और शृगारमय तथा आधुनिक राष्ट्रीय चेतनात्मक है, क्योकि उस समय समाज की परिस्थितियो की विचार-धारा भी वैसी ही थी। यूरोप के निवासियो को अपने जीवन-निर्वाह के लिए विशेप परिश्रम करना पडता है और शरीर-रक्षा के लिए भोजन-वस्त्रादि का उपयोग भी वहुत अधिक करना पडता है इसलिए वहाँ के साहित्य में भौतिकता भी प्रधानता स्वाभाविक है, किन्तु उर्वरा भारतीय भूमि में स्वल्प परिश्रम से ही सब सुख-सामग्री सुलभ रही है। अत यहाँ के साहित्य में आध्यात्मिकता और विलासिता का ही प्रमुख स्थान है।

(५) यथार्थवाद हमारी आँखें खोल देता है तो आदर्श ········ और सदविचार से पाठकों को मोहित कर लेता है। **(पृष्ठ)**

व्याख्या—प्रस्तुत पक्तियाँ मुन्शी प्रेमचन्द जी के **'उपन्यास का विषय'** शीर्षक लेख से उद्धृत की गई हैं। बहुत से लेखक और विशेषतया प्रगतिवादी लेखक अपने-अपने उपन्यासो और काव्यो में यथार्थवाद के नाम पर समाज में जो कुछ जैसा होता है उसका वास्तविक वर्णन करते हैं। ऐसा करते हुए वे लोग मानव की वासना के नग्न चित्र उपस्थित करने में लज्जा के स्थान पर गौरव का अनुभव करते हैं और साथ ही समाज को समुन्नत बनाने वाले व्यक्ति में समाचार का प्रचार करने वाले किन्हीं उच्च आदर्शों व उपदेशो को तो वे सर्वथा दूध की मक्खी समझकर अपनी रचना से वाहर निकाल फेंकते हैं। दूसरी ओर कुछ ऐसे भी लेखक हैं जो केवल नैतिकता के आदर्शो की

व्याख्या करने या समाज को सदुपदेश देने मात्र के लिए अपनी साहित्यिक रचना करना चाहते हैं। उनकी रचनाएँ अपनी आदर्शात्मकता के कारण काव्य (उपन्यास, कविता, कहानी आदि) न बनकर धर्म-ग्रन्थ मात्र बन जाते हैं। वे आदर्श पात्र सामान्य समाज से इतने ऊपर उठ जाते हैं कि हम उन्हे अपने ही वर्ग का साधारण प्राणी न मानकर एक अलौकिक दिव्य महापुरुष या देवता मान बैठते हैं। फलत उसके सुख-दुखो से हमारी विशेष उत्सुकता या सहानुभूति नही रह पाती। इसलिए होना यह चाहिए कि हम एक देवता के समान उच्च गुण सम्पन्न चरित्र की अवतारणा तो भले ही कर डाले, पर साथ ही उसे एक पत्थर की प्रतिमा प्रत्युत चलती-फिरती सजीव चेतनाकृति के रूप में अकित कर सकें। ऐसा तभी हो सकता है जब हम यथार्थवाद और आदर्शवाद इन दोनो का अपनी रचनाओ में समन्वय करदे। इन दोनो के समन्वय को ही श्री प्रेमचन्द जी ने आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का नाम दिया है। कहने का तात्पर्य यह है कि लेखक को न तो यथार्थवाद के नाम पर कोरे कुत्सित चित्रो को ही अकित करना चाहिए और न केवल ऐसे आदर्श पात्र प्रस्तुत कर दिये जायें जिनके चरण-चिन्हो पर चलना जन-सामान्य के लिए सर्वथा असम्भव हो जाय, और कह उठे कि वे तो महात्मा हैं, या भगवान् के अश हैं, हम साधारण प्राणी भला उनकी समता क्या करेंगे। अत. हमारे सामान्य समाज के साधारण पात्र ही आदर्शयुक्त दिखाये जाने चाहिए ताकि हम भी उनका अनुकरण कर सकें।

(६) प्रगतिवादी का सुधारकवाद में .... करना प्रगतिवादी साहित्य का उद्देश्य है (पृष्ठ ८६)

व्याख्या—प्रस्तुत सदर्भ श्री शिववालक राय के 'प्रगतिवाद की रूप-रेखा' नामक निवन्ध से उद्धृत किया गया है। गांधीवाद के अनुसार मानव हृदय को अपने शुभ आचरणो, सहानुभूतिपूर्ण व्यवहारो या प्रेमपूर्ण आग्रह से परिवर्तित किया जा सकता है। स्नेह और सहानुभूति से दानव भी मानव बन सकता है। किन्तु प्रगतिवादी कवि उक्त तथ्य पर विश्वास नही

करता। वह तो पुरानी भ्रष्टताओं को मिटाने के लिए एक बार सर्वसंहार कर फिर नवनिर्माण करना चाहता है'। प्रगतिवादी कवि कहता है कि समाज ने सदियों से जो कुसंस्कार ग्रहण किये हुए हैं, उपदेशों व प्रार्थनाओं से वह उन्हें छोड़ेगा नहीं। चाहे कितना ही मनाओ, समझाओ, पूंजीपति रूपी जोंक से श्रमिकों का रक्त चूसना छोड़ा नहीं जा सकता। इसलिए प्रगतिवादी एक के स्थान पर दूसरी व्यवस्था का ही नहीं, प्रत्युत नवनिर्माण का आह्वान करता है। वह क्रांति का—सर्वनाश का उपासक है।

(७) इन आक्षेपों का अलग-अलग··· ··· प्रसार कर अपना उपहास नहीं कराता। (पृष्ठ ६१)

व्याख्या—प्रगतिवाद पर ये दोष लगाये जाते हैं कि प्रगतिवाद में ईश्वर-धर्म और आस्तिकता को कोई स्थान नहीं है। प्रगतिवादी प्राचीन साहित्य के सौन्दर्य का अनुभव नहीं कर पाता। वह कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में सामन्तशाही-विलासिता का ही चित्र देखता है। प्रगतिवादी यथार्थवाद के नाम पर साहित्य से आदर्शवाद को सर्वथा के लिए विदा करना चाहता है। स्त्री-पुरुषों के प्रेम के चित्र उपस्थित करना ही इसका एक मात्र ध्येय प्रतीत होता है। प्रगतिवादी साहित्य समाज के एक ही अंग का चित्र उपस्थित करता है। प्रत्येक समाज में सदा मूर्ख और विद्वान्, धनी और निर्धन, सात्विक और दुराचारी दोनों श्रेणियों के व्यक्ति रहते हैं। प्रगतिवादी साहित्य इन दोनों में मेल-मिलाप करने की अपेक्षा उनका पारस्परिक संघर्ष कराना चाहता है। प्रगतिवाद के सम्बन्ध में लगाये गये इन आक्षेपों का अलग-अलग उत्तर देने की कोई आवश्यकता नहीं। यदि प्रगतिवादी ने किसी तुच्छ से तुच्छ घटना का भी अपनी कल्पना के कौशल से चमत्कृत वर्णन कर दिया, तो उस रसात्मक रचना को उत्कृष्ट साहित्य ही कहा जायगा। कोई साहित्यकार केवल उच्च वर्ग या महत्वपूर्ण घटना या वस्तुओं का ही वर्णन करता रहे अर्थात् आकाश में ही उड़ता फिरे पृथ्वी पर पाँव रखे ही नहीं, यह भी

उचित नही। विपरीत इसके यदि कोई कवि छोटी-छोटी उपेक्षणीय वस्तुओ को ही अपने काव्य का स्थायी प्रधान विषय बना ले यह भी ठीक न होगा। सब वस्तुओ का यथासमय और यथोचित वर्णन होना चाहिए पर कोई भी कवि किसी वाद विशेष या सिद्धान्त विशेप का प्रचार करने के लिए ही कविता न लिखने लग पडे। साहित्य का मुख्य उद्देश्य तो रस-सचार ही होना चाहिए। इसलिए जो लेखक प्रगतिवाद के नाम पर भारत में रूसी साम्यवाद का प्रचार किया चाहते हैं, और वे भारतीय सस्कृति को हेय बताते है तो वे न तो सच्चे कलाकार हैं और न समाज के उद्धारक ही। ऐसे प्रगतिवादियों के सम्बन्ध में तो ये आक्षेप सर्वथा उचित ही हैं, किन्तु दलित और शोपित वर्ग के प्रति सच्ची सहानुभूति प्रकट करने वाले प्रगतिवादी साहित्य के सम्बन्ध में ये आक्षेप निराधार ही हैं।

(८) छायावाद के आरम्भ से ही···· व्याख्या की जा सकती है।

(पृष्ठ २८)

व्याख्या—प्रस्तुत सदर्भ डा० नगेन्द्र के 'छायावाद की परिभाषा' शीर्षक निवन्ध से उद्धृत किया गया है। हिन्दी साहित्य में छायावाद के अवतरण की पृष्ठ-भूमि पर प्रकाश डालते हुए डा० साहव कहते हैं कि प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् विश्व और भारत के सामाजिक व राजनैतिक जीवन में वडा भारी परिवर्तन आ गया। फलत. नवीन चेतना के कवियो के अन्तर्जगत् के सलौने, सुन्दर, सुकोमल स्वप्न वहिर् जगत् की कठोर वास्तविकता एव नीरस स्थूलता से सहम कर सकुचित हो गये। फलत. वह किसी सुदूर अज्ञात लोक की सूक्ष्म और रहस्यमय भावनाओ की गोदी में झूमने लगा। ये कविगण उस एकात में अपने कल्पित सुन्दर का मनोहर चित्र अकित कर उस सौन्दर्य पर स्वय ही रीझ-रीझ कर पुलकित होने लगे। इस इस प्रकार छायावादी कलाकारो की सूक्ष्म या अतीन्द्रिय की उपासना करते-करते प्रत्येक स्थूल को सूक्ष्म वायवीय या अतीन्द्रिय रूप देने का अभ्यास सा हो गया। किसी भी स्थूल वास्त-

विकता को सूक्ष्म रूप देने की यह भावना ही छायावाद की प्रेरिका मूल प्रवृत्ति है।

इससे यह न समझा जाय कि सब छायावादी कवि दृश्यमान स्थूल जगत् के सघर्षों से घबडा कर किसी जगत् के कोलाहल से दूर सूक्ष्म एकात कोने में जा छिपना चाहता है और इस प्रकार छायावादी कवि ससार के सघर्ष से भाग जाने वाले या पलायनवादी हैं। क्योंकि सूक्ष्म सुकोमल सौन्दर्य की उपासना के लिये ही इन लोगो की काव्यानुभूति जाग्रत होती थी।

भाव यह है कि जब छायावादी कवि की मनोभावनाएं इस दृश्यमान ससार में सफल होती दिखाई न देती, तो वह उनकी क्षतिपूर्ति के निमित्त एक कल्पित सौन्दर्य-लोक का सहारा लेने लगता है। इस प्रकार मानसिक कुण्ठा या काम-वासनाओ की अपूर्णता की परिणति छायावाद के रूप में हुई।
